बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

निर्देशक

प्रो० के० के० मिश्रा

राजनीति विज्ञान विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधकर्ती

रजनी त्रिवेदी

एम०ए०

राजनीति विज्ञान विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

राजनीति विज्ञान विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद (उ०प्र०)

2002

Dr. Krishna Kant Misra
Retired Professor of Political Science
University of Allahabad

0532-2541380
Residence :
M I G. 9 (S.F.S.) Govindpur
Opposite Uptron
Allahabad- 211004

Date 23-12-2002

This is to certify that the work embodied in this dissertation entitled "BALGANGADHAR TILAK AUR GOPAL KRISHNA GOKHALE KE RAJNITIK EVAM SAMAJIK VICHARON KA TULNATMAK ADDHYAYAN" is the original work of the candidate, SMT. RASHI TRIVEDI (RASHI TIWARI before marriage), and is suitable for submission for the award of D. PHIL. Degree in Political Science by the Allahabad University. The candidate has fulfilled the requirements of attendance, and stay.

(K K Misra)
K. K. Misra
Supervisor

—: विषय सूची :—

प्राक्कथन

प्रारम्भ से ही मेरी, भारतीय राजनीतिक चिन्तको में गहरी रूचि रही है। यही कारण है कि जब मैने शोध करने का मन बनाया तो मेरे मन में सर्वप्रथम यह विचार आया कि क्यों न बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले जैसे दो विरोधी विचारकों के विचारों का गहन अध्ययन किया जाय और मैंने अपने सुपरवाइजर से इसी विषय पर शोध करने की इच्छा व्यक्त की। उनकी अनुमति के उपरान्त मैंने अपने शोध का शीर्षक 'तिलक और गोखले' के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन रखा।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में बाल गंगाधर तिलक तथा गोपाल कृष्ण गोखले के सामाजिक और राजनीतिक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास किया गया है। यह शोध ग्रन्थ छः अध्यायों में विभक्त है। **प्रथम अध्याय** में उन्नीसवी शताब्दी में भारत की सामाजिक और राजनीतिक दशा का वर्णन किया गया है। **द्वितीय अध्याय** तत्कालीन भारत में उदारवाद एवं उग्रवाद की अवधारणा तथा विकास की ओर संकेत किया गया है। वहीं **तृतीय अध्याय** में तिलक के राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों का वर्णन है। **चतुर्थ अध्याय** में बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। तो वही **छठे अध्याय** में निष्कर्ष एवं सुझाव के माध्यम से तिलक और गोखले के विचारों को वर्तमान परिपेक्ष्य में प्रांसांगिकता की दशार्या गया है

इस शोध ग्रन्थ में मैंने इस बात का भरसक प्रयास किया है कि पाठकगण लोकमान्य तिलक एवं गोपाल कृष्ण गोखले की राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों से अवगत हो, और उनके विचारों के तुलनात्मक अध्ययन से उन्हें नवीन जानकारी प्राप्त हो। आज के वर्तमान परिपेक्ष्य में उनके विचार कितने प्रासांगिक है इसकी भी उन्हें जानकारी प्राप्त हो। मेरा यह प्रयास कितना सफल रहा है यह तो पाठकगण की पैनी दृष्टि पर ही निर्भर करेगा। मैंने अपनी ओर से सन्तुष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया है फिर भी अपनी मानवीय भूल के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

आभार

'बाल गंगाधर तिलक तथा गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन' विषय के अंतर्गत शोध करने की अतीव आकांक्षा को कार्य रूप में परिणित करने में मेरे पूज्यनीय गुरु डॉ० के० के० मिश्रा एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती माया मिश्रा का अभूतपूर्व योगदान रहा। मेरे गुरु के मार्गदर्शन और आर्शीवाद के बिना तिलक और गोखले जैसी महान विभूतियों पर शोध करना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। मेरे गुरु ने एक पर्यवेक्षक की भूमिका में यहाँ विषय के अध्ययन और चिन्तन को सार्थक दृष्टि प्रदान कर वास्तविक अर्थों में गुरु के दायित्वों का निर्वहन करके मेरा मार्गदर्शन किया। वहीं अपना अमूल्य समय एवं मधुर स्नेह और प्रेरणाप्रद सहयोग प्रदान कर समय-समय पर विभिन्न समस्याओं का समाधान करके मेरे उत्साह में वृद्धि की। आपके प्रति मैं अपना विनीत सम्मान व आभार प्रकट करती हूँ।

शोध कार्य में समय-समय पर डॉ० आलोक पंत, विभागाध्यक्ष राजनीति विज्ञान विभाग एवं दिवाकर दत्त कौशिक प्रवक्ता राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से जो परामर्श एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुआ, उसके लिए मैं उनकी ऋणी हूँ। मैं राजनीतिशास्त्र विभाग के समस्त गुरुजनों को एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय, राजनीति शास्त्र विभाग, इ० वि० वि०, पन्त संस्थान इलाहाबाद, केन्द्रीय राजकीय पुस्तकालय इलाहाबाद, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी काशी विद्यापीठ वाराणसी के पुस्तकालयाध्यक्षों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जिनके अपार सहयोग से मैं कार्य पूर्ण करने में समर्थ हुई।

मैं अपने शुभ चिन्तकों व स्नेही स्वजनों एवं मित्रों के प्रति भी अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने शोध कार्य के विभिन्न चरणों में मेरी पूर्ण सहायता की।

अंत में मैं अपने आदरणीय सास-श्वसुर, माता-पिता, अग्रजों तथा विशेष रूप से अपने पति श्री धर्मेश त्रिवेदी एवं नन्हे बेटे 'अंश' (जिसने बाल सुलभ चंचलता को कम करके मुझे सहयोग प्रदान किया) की आभारी हूँ जिनके पूर्ण सहयोग के कारण ही मैं यह विस्तृत शोध को पूर्णता तक पहुँचा पाई हूँ। सतक-सतत उत्साह प्रदान करने वाले अपने जीवन साथी के प्रेरणादायक सहयोग को मैं कभी भुला नहीं सकती हूँ। इन समस्त अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण ईश्वरीय अनुकम्पा से ही हुआ है अतः ईश्वर को मैं शत-शत नमन करती हूँ।

दिनांक

शोधकर्ता
श्रीमती रजनी त्रिवेदी
राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अध्याय—1

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत की सामाजिक तथा राजनीतिक दशा

कोई भी विचारधारा, ज्ञान व दर्शन अपनी परिस्थितियों से जन्म लेता है। कोई भी विचारक, दार्शनिक, अपने विचारों की धारा को और अधिक पैना करने के लिए अपने समय के वातालरण को ही आधार बनाता है। क्योंकि कोई विद्धान या महान् हस्ती अपने समय से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, तथा वह आँख मूद कर होने वाले अत्याचार को भी नहीं देख सकता है। एक समय ऐसा आता ही है कि वह सोये हुए समाज को जागृत करने के लिए उठ खड़ा होता है, तथा नेतृत्व प्रदान करने लगता है। इसके अतिरिक्त कोई भी महान् व्यक्ति कभी भी अपने अनुयायीयों को अधर पर नहीं छोड़ता है। वह तब तक जन समुदाय के साथ रहता है जबतक वह अपन लक्ष्य को पूर्ण रूप से प्राप्त न कर ले। इन बातों को लिखने के पीछे हमारा उद्देश्य यह है कि हम यह बताये और जानने का प्रयत्न करें कि 19वीं शताब्दी में ऐसी कौन सी परिस्थितियों इस देश में थी जिनसे प्रेरित होकर देश के दो महान् सपूत जन जागरण हेतु उठ खड़े हुए और उन्होंने ऐसा नेतृत्व दिया जिससे शक्तिशाली अंग्रेज जिन के विषय में कहावत प्रचलित थी कि **'इनका सूर्य कभी भी अस्त नहीं होता'** भी लोहा मान गये तथा मजबूर हुए कि उनके साथ मिलकर देश के सुधार कार्यक्रम में हिस्सा लें। अन्ततः देश छोड़ने तक की सोचने लगें और देश से पलायित भी हो गये। अन्त में इन्ही महान् हस्तियों के अथक प्रयास से देश स्वाधीन भी हो गया। 'अब अपना आसमान था, अपनी जमीं थी।'

19वीं शताब्दी की परिस्थितियों से परिचित होने के लिए हमने इस अध्याय में संक्षिप्त रूप में उन्नीसवी सदी की राजनीतिक, सामाजिक दशाओं का वर्णन किया है। जिसके सहयोग से यह जानने में हमें सुविधा ाहोगी कि किन विपरीत परिस्थितियों के होने पर भी हमारे देश के नेताओं ने अपने कुशल नेतृत्व से देश को फिर से उस महान् इतिहास में स्थान दिलाया जिसका पात्र भारत सदा से ही रहा है।

भारतीय इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी को अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है क्योंकि यह समय जबर्दस्त बौद्धिक और सांस्कृतिक उथल पुथल का समय था। आधुनिक पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव और विदेशी शक्ति द्वारा पराजित होने की चेतना के चलते लोगों में नई जागृति पैदा हुयी। जनता में इस बात का अहसास हो चुका था कि भारतीय सामाजिक ढांचे और सांस्कृतिक दुर्बलताओं की वजह से मुट्ठी भर विदेशियों ने भारत को उपनिवेश में बदल दिया है। मानवतावाद से विवेक पर आधारित सिद्धान्तों और आधुनिक विज्ञान ने उन्हें खास तौर से प्रभावित किया। क्योंकि इस बात पर लोगों में मतवैभिन्य था कि सुधार के लिए किस मार्ग का चयन किया जाय। लेकिन इस सदी के सभी बुद्धिजीवी इस विश्वास के थे कि सामाजिक और धार्मिक सुधारों की तत्काल आवश्यकता है।

भारत में आधुनिकता के आगमन के लिए हमें सर्वप्रथम उन उत्तरदायी परिस्थितियों का सर्वेक्षण करना आवश्यक है जिसके आधार पर एक नवीन पृष्ठभूमि तैयार हुयी। जैसा कि सर्वविदित है इस समय देश में एक केन्द्रीय सत्ता का अभाव था। औरंगजेब की मृत्यु ने सम्पूर्ण देश में अव्यवस्था तथा अराजकता का बोल बाला हो गया। जिससे सांकेतिक रूप से ही सही परन्तु देश में मुगल सत्ता के रूप में स्थापित एकता की भावना को समाप्त कर दिया। इसी समय यूपोप में औद्योगिक विवाद तथा व्यवसायिक क्रान्ति से लाभान्वित तथा नए वैज्ञानिक साधनों एवं ज्ञान से सुसज्जित अंग्रेज जाति ने साम्राज्यवाद हेतु न केवल भारत में बल्कि समस्त एशियाई देशों की ओर मुख किया और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भारत में अर्द्ध साम्राज्य विस्तारवादी स्वप्नों को साकार कर लिया। भारत जो कि सोने की चिड़िया कहा जाता था, जो सदा ही विदेशियों को आकर्षित करता रहा है इस लक्ष्य का प्रधान केन्द्र बन गया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों तक एशियाई देशों में सर्वत्र आर्थिक अध:पतन तथा थोड़े से अपवादों को छोड़कर अन्यत्र राजनीतिक जर्जरता सामाजिक गतिहीनता तथा सांस्कृतिक सड़ाँध के दृश्य दिखायी देने लगे। विश्व के इतिहास में एशिया की गणना अधीन कोटि में होने लगी।[1]

---

1. वी० पी० वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता हास्पिटल रोड आगरा-3, 1971 पृ० 1

सम्पूर्ण देश में अव्यवस्था और अनाचार एवं रक्तपात का वातावरण बना हुआ था भारत के विभिन्न प्रान्त के लोग एक दूसरे को विदेशी समझते थे। बंगाली, हिन्दुस्तानी, सिक्ख, राजपूत व मराठा के लोग आपस में ही शत्रुता का व्यवहार रखते थे। वह एक दूसरे के प्रति प्रतिशोध से ग्रसित ते। इस सन्दर्भमें ओ मेली ने कहा "जिनकी अपनी एक सम्मिलित भाषा नहीं जो सामाजिक और राजनीतिक तौर पर खण्डों में विभाजित थे ऐसी स्थिति में समस्त भारतीय जनता की राजनीतिक एकता का प्रश्न ही नहीं था।" लोग सामाजिक और आर्थिक तौर पर भी एक नहीं थे।[1]

ब्रिटिश भारत में अंग्रेजों ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ धार्मिक व्यवस्था को भी झकझोर दिया था। उन्होंने येन केन प्रकारेण भारत में हिन्दू धर्म का विनाश कर, ईसाई धर्म का प्रचार प्रसार करना अपना ध्येय समझा। क्योंकि ऐसा इसलिए था कि तत्कालीन समाज में धर्म एक ऐसा सूत्र था जो विभिन्न गतिविधियों को निर्देशित व मर्यादित करता था। धर्म तथा समाज के मध्य मत विभाजन कर सकना कठिन था। इसके परिपेक्ष्य में डॉ० ताराचन्द के ये विचार प्रासंगिक है कि "सम्पूर्ण भारत पर भंयकर कफन सा पड़ा हुआ था, जिसके नीचे जनता के विभिन्न वर्ग ठंढे पर गये थे और जन समाज का दम घुट रहा था। मुस्लिम और हिन्दू नरेशों को अलग-अलग कर दिया गया था, जिन मुस्लिम और हिन्दू परिवारों, कबीलों और जातियों ने सैनिक प्रशासन और नेता प्रदान किये वे उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण पदों से वंचित करके परजीवियों के रूप में निकृष्ट जीवन बिताने के लिए छोड़ दिया गया था।"[2] लगातार अव्यवस्था, हिंसा, लूट व विदेशी आक्रान्तओं ने भारतीयों को पस्त कर दिया था। जिसके कारण उनमें राजनीतिक परिवर्तन एवं राजनीतिक चेतना के प्रति उदासीनता के भाव उत्पन्न हो गये थे। उनका ध्यान स्वराज्य स्वशासन की ओर से पूजा पाठ व सामाजिक उधेड़ बुन के प्रति अधिक केन्द्रित होता चला गया।

---

1. ओ० मेली : मार्डन इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पृ०-135
2. डॉ० ताराचन्द : भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, मन्नमथनाथ गुप्त, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार नई दिल्ली-1972-पृ० 15.

तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था जो कि पूर्ण रूपेण कुठित एवं पतोन्मुखी हो चुकी थी। प्राचीन भारतीय वैदिक सामाजिक व्यवस्था एवं मूल्यों का पूर्ण रूपेण लोप हो गया था। यद्यपि कि यह कार्य मध्यकालीन भारत में मुगलों के शासन से ही प्रारम्भ हो चुका था। तथापि उन्नीसवी सदी तक पहुँचते-पहुँचते भारत की सामाजिक व्यवस्था तमाम बुराइयों से ग्रसित हो चुकी थी। इन बुराइयों को सामाजिक स्तर पर फैलाये गये अन्ध विश्वासों से अर्जी मिलती थी वहीं दूसरी तरफ शासक वर्ग की उदासीनता इनके फलने फूलने में सहायक सूत्र रहा। ब्रिटिश भारत में भारत की सामाजिक अवस्था पूर्ण रूपेण पतन के गति में जा चुकी थी।[1] इन परिस्थितियों का अंग्रेजों ने पूरा लाभ उठाया और सामाजिक ढाँचे को ध्वस्त कर दिया। मार्क्स के विचार से इस स्थिति को और स्पष्ट तरीके से समझा जा सकता है : ''हिन्दुस्तान में कितनी ही बार गृह युद्ध छिड़े, विदेशी आक्रमण हुए, क्रान्तियाँ हुयी, विदेशियों ने बार-बार देश को जीता, आकाल पड़े, लेकिन ये घटनाएं भले ही सतही तौर पर आश्चर्य जनक रूप से जटिल लगे और बड़ी ही तेजी से घटित होने वाली तथा विनाशकारी लगे लेकिन वे सतह से ज्यादा नीचे तक प्रभावित नहीं कर पाती थी। इंग्लैण्ड ने भारतीय समाज के सम्पूर्ण ढाँचे को तोड़ दिया है और उसके पुर्ननिर्माण के अभी तक कोई आसार दिखायी नहीं पड़ते है। पुरानी दुनिया का इस तरह उजड़ जाना और नई दुनिया का कहीं पर पता न चलना, हिन्दुस्तानियों के वर्तमान दु:ख दर्द के साथ एक खास तरह का विषाद जोड़ देता है, तथा ब्रिटिश शासित हिन्दुस्तान को अपनी समस्त प्राचीन परम्पराओं तथा उसके सम्पूर्ण विगत इतिहास से काट देता है।''[2]

भारतीय जीवन में समाज तथा धर्म की इस घनिष्ठता ने सामाजिक स्तर पर फैले अन्ध-विश्वासों, कुप्रथाओं, कुरीतियों तथा पाखण्डो तथा बाह्य आडम्बरों को धार्मिक संस्तुति दे दी। कोई

---

1. रजनी पाम दत्त : आज का भारत, अनुवादक, आनन्द स्वरूप वर्मा, द मैकामिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, प्रथम हिन्दी संस्करण, 1977 पृ० 116

2. रजनी पाम दत्त : वहीं, पृ० 116

भी प्रथा चाहे कितनी ही घृणित साधारण, एवं विकृत क्यों न रही हो वह किसी न किसी धार्मिक सिद्धान्त पर टिकी हुयी थी। इसलिए रूढ़ियों भी उतनी ही पवित्र हो गयी थी, जितना की धर्म।[1]

19वीं शताब्दी की सामाजिक स्थिति पर दृष्टिपात करने पर सबसे पहले हमारा ध्यान समाज में स्त्रियों की दयनीय दशा पर जाता है। स्त्रियां सबसे अधिक कष्टमय स्थिति में थी। शिक्षा, स्वास्थ तथा सामाजिक स्थिति एवं स्वतंत्रता की दृष्टि से देश की नारी इस समय पतन के सबसे निकृष्ट रूप में थी। के० सी० व्यास के शब्दों में "भारत की नारियां नरक का सा जीवन व्यतीत कर रही थी, नारी को भारत में कोई सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं थे, शिक्षा व नवीन चेतना का कोई प्रश्न नहीं था।"[2] देसाई के अनुसार "भारतीय नारी सती और बाल हत्या जैसे बर्बर क्रूर प्रथाओं का शिकार थी।"[3]

पति के मरने पर पति की चिता पर जलकर भस्म हो जाना यह सती प्रथा धार्मिक रूप में महत्वपूर्ण समझा जाता था। प्राचीन काल में सती होने के पीछे कोई धार्मिक कारण नहीं था। कील के अनुसार, "ऋग्वेद में जिस प्रकार जीवन के सुख, आनन्द, एवं भक्ति का बयान किया गया है उससे स्पष्ट होता है कि इस काल में सती प्रथा नहीं थी। इस प्रकार धार्मिक हत्या का उल्लेख नहीं मिलता है। मनु स्मृति भी इस सम्बन्ध में मौन है। महाभारत में कुछ विधवाओं के सती होने के सन्दर्भ मिलते है। विराट पर्व में सौरान्ध्री के सती होने का उल्लेख है मौसला पर्व में वासुदेव की मृत्यु होने पर उनकी चार पत्नियाँ देवकी, भद्र, रोहिणी और मदिरा के सती होने का संकेत है।[4] रामायण में भी सती होने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। प्राचीन काल में सती होने के पीछे धार्मिक कारण न होकर पवित्रता एवं शौर्य की भावनाए प्रमुख थी।

---

1. एबे० जे० दुबाय : हिन्दू मैनर्स, कस्ट्मस एण्ड सेरेमोनीज, एच० के० न्यूकम्प द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, तृतीय संस्कर, 1968. पृ० 31.
2. के० सी व्यास : द सोशल रिनेसां इन इण्डिया, बोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स, प्रा० लि०, बाम्बे 1957. पृ० 31.
3. ए० आर० देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लि०, 1976 पृ० 219.
4. उपेन्द्र नाथ ठाकुर : द हिस्ट्री ऑफ सोसाइड इन इण्डिया, पृ० 126 127.

मध्यकाल में जन अविवेकपूर्ण सामाजिक पाखण्ड तथा पुरोहित पतिव्रता धर्म पर होने लगी जब हिन्दू धर्म का आधार तार्किक ज्ञान नहीं रह गया तो सती की धारणा को धार्मिकता का रूप देकर व्यापक बना दिया गया यह धारणा प्रबल हो गयी कि सती हो जाने से उसके पति के पाप नष्ट हो जाते है वह स्वर्ग में अपनी पत्नी के साथ आनन्द व सुख से रहेगा लोगों में यह धारणा घर कर गयी धर्म ने विधवा के लिए सती होने का ही मार्ग बताया।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते यह अमानुषिक सती प्रथा मुख्य रूप से बंगाल में उच्च शिखर पर पहुंच चुकी थी। विधवाओं को मृत पति के साथ ही बलात् चिता में झोंक दिया जाता था और जब तक वे जलकर भस्म नहीं हो जाती थी तब तक उन्हें बांस के लट्ठे से दबाया रखा जाता था। अनेक विधवाएं वैधव्य जीवन की यातनाओं के स्मरण मात्र होने से ही सती होने के लिए तैयार हो जाती थी।[2] विधवाओं के सिर का बाल मुड़वा दिया जाता था जिससे वे केश विन्यास न कर सके, क्योंकि यदि विधवाएं केश विन्यास करती है या बालों आदि में गांठ लगाती है तो परलोक में उसका पति भी बंधनों में बंध जाएगा।[3]

एक तरफ सती प्रथा दूसरी तरफ विधवाओं का पुर्नविवाह धर्म के विरुद्ध माना जाता था। अत: यह भय बना रहता था कि विधवा स्त्री पुन: विवाह न कर ले जिसके कारण कुल कंलकित हो या उसके चरित्र पर ही लान्छन लगे। अपने ऐसे दु:खमय भविष्य की कल्पना करने वाली भावुक महिलायें सती होने के लिए प्रेरित होती थी। इस प्रथा के पीछे आर्थिक कारण भी था। बंगाल में दायभाग के प्रचलन से पुत्रहीन विधवा का संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में वही अधिकार हो गया था

---

1. उपेन्द्र नाथ ठाकुर : द हिस्ट्री ऑफ सोसाइड इन इण्डिया-पृ० 128.
2. एने० जे० दुबाय : हिन्दू मैनर्स कस्टम एण्ड संरमनीज, एच० के० व्यूकम्प द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, तृतीय संस्करण, 1968, पृ० 361.
3. एस० नटराज : शिरसो वयं नत्स्यत् कायं विधवया तथा विधवा कवरीबन्धो मातृवन्वाय जायने। ए सेन्चुरी ऑफ सोशल रिफार्म इन इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1962 पृ० 17।

जो उसके पति का होता था। परिवार की सम्पत्ति पर अधिक लोगों का हिस्सा न हो इसके लिए यह उचित समझा गया कि विधवा को मृत पति के साथ प्राण त्याग के लिए प्रेरित कर दिया जाए या उसे बलात् अग्नि शिखाओं को अर्पित कर दिया जाय।[1] अकाल के कारण निर्धनता की चरम सीमा न केवल बंगाल में पहुँच गयी वरन् सम्पूर्ण भारत भी इसके प्रभाव में आ गया। ऐसी स्थिति में विधवा पुर्नविवाह द्वारा जनसंख्या क ाबढ़ना घातक समझा गया। निर्धनता अकाल व जनसंख्या की दृष्टि से विधवायें परिवार में सबसे बड़ा बोझ थी। इसके अलावा सबसे दु:खद पहलू तो यह था न सिर्फ पति के घर से वरन् अपने माता-पिता के घर से भी उनको किसी भी प्रकार का संरक्षण प्राप्त नहीं था। ऐसी स्थिति में विधवाओं को जला देना आर्थिक विवशता ही समझी जा सकती है।

उन्नीसवी शताब्दी में बाल विवाह जैसी प्रथा ने भारतीय सामाजिक दशा को दूषित कर रखा था। बाल विवाह इस समय समाज में घुन की तरह काम कर रहा था।[2] इसके प्रचलित होने के कई कारण थे। जिसमें से पहला धार्मिक रूढ़िवाद विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में इस बात पर बल दिया गया था कि रजोवृत्ति से पूर्व ही कन्या का विवाह हो जाना चाहिए अन्यथा उनके माता-पिता पाप के भागी बनेंगे। इसके अतिरिक्त राजनीतिक परिस्थितियां भी उत्तरादायी थी। मध्य युग में विदेशी आक्रमण तथा उनका शासन स्थापित होने पर देश की तत्कालीन स्थिति बड़ी ही अनिश्चित और असुरक्षित हो गयी थी। कन्याओं को मुस्लिम आक्रान्ताओं के हाथों में पड़ने से बचाने का यही मात्र एक उपाय था कि छोटी उम्र में ही उनका विवाह कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त दहेज की रूढ़ि से निपटने हेतु कम उम्र में विवाह करना ज्यादा अच्छा था क्योंकि तब दहेज का प्रश्न इतनी कठिनाई पैदा नहीं करता था। अत: इसके कारण अब समाज में केवल रजोवृत्ति से पूर्व बल्कि आठ से दस वर्ष की आयु में ही विवाह करना आवश्यक समझा जाने लगा।[3]

---

1. एबे० जे० दुबाय :हिन्दू मैनर्स कस्टम एण्ड सेरेमनीज, पृ० 362.
2. उपेन्द्र नाथ ठाकुर : द हिस्ट्री ऑफ सोसाइड़ इन इण्डिया पृ० 171.
3. हरिदत्त वेदालंकार : हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास- पृ० 306.

संयुक्त परिवार की प्रणाली ने भी बाल विवाह को काफी प्रोत्साहित किया क्योंकि विवाह के द्वारा उत्पन्न समस्त उत्तरदायित्व विवाह करने वाले लड़के पर नहीं वरन् उसके संयुक्त परिवार पर था।[1]

सती प्रथा जिसके कारण माता एवं पिता दोनों ही काल कलवित हो जाते थे ऐसी स्थिति में बच्चों के देखभाल की समस्या गम्भीर हो जाती थी। एवं बाल विवाह द्वारा दायित्वों से बचा जाता था। इन बाल विवाहों से अनेकों दुष्परिणाम होते थे। जैसे—स्वास्थ में गिरावट, रूग्ण सन्तान शिक्षा प्राप्ति में बाधा, बचपन में ही बालिकाओं का माँ बनना एवं प्रसव से ही उनकी मृत्यु हो जाना आम बात थी। अत: इन सामाजिक विकारो से समाज अत: पतन की ओर अग्रसर होता चला गया।

हिन्दू समाज के ये विचार अपने चरम रूप में उन्नीसवी शताब्दी में दृष्टिगोचर होते है। ऐसा नहीं था कि समय-समय पर इनको रोकने का प्रयत्न नहीं किया गया। मुगल सम्राट अकबर और जहाँगीर ने इसे दिल्ली के आस-पास के स्थानों पर बन्द करा दिया था। लेकिन जहाँ हिन्दुओं ने रक्त की शुद्धता बनाए रखने के लिए बाल विवाह जैसे अमानुषिक प्रथा प्रचलित की वहाँ दूसरी ओर विधवा विवाह पर कठोर प्रतिबन्ध की प्रथा भी प्रचलित थी। जिससे इस प्रथा पर पूर्ण प्रतिबन्ध कभी नहीं लगाया जा सका।[2]

ऐसा नहीं था कि प्राचीन वैदिक युग से ही यह नियम चले आ रहे है। ''वैदिक युग में नियोग की प्रथा के प्रचलन से स्पष्ट होता है कि उस समय विधवा विवाह होते थे। उन पर प्रतिबन्ध नहीं था। नियोग प्रथा से तात्पर्य विधवा स्त्री पुत्र प्राप्ति की इच्छा से अपने देवर के साथ या देवर न हो तो सगोत्र या सजातीय पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकती थी पति के असाध्य रोगी होने पर या

---

1. ए० एस० अतेतकर : पोजीशन ऑफ वोमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन वाराणसी 1956 पृ० 61.

2. के० सी० व्यास : द सोशल रिनेसा इन इण्डिया, बोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स, प्रा० लि० बम्बई, 1957, पृ० 48.

नपुसक हड्डने पर भी स्त्री पुत्र प्राप्ति के लिए नियोग कर सकती थी।[1] परन्तु शनैः-शनैः इस प्रथा में कमी आने लगी। समाज में विधवा विवाह के पीछे अन्ध विश्वास की भावना काम करने लगी जिन विधवा स्त्री के बच्चे जीवित रहते थे, वे विवाह नहीं करती थी। विधवा का जीवन ही व्यतीत करती थी। कुछ स्त्रियां अपने पति से आगाध प्रेम, श्रद्धा के कारण अकेले ही जीवन काटना पसन्द करती थी। पुराण में तो यहाँ तक लिखा है कि कलयुग में विधवा विवाह नहीं होना चाहिए। पी० वी० काणे के अनुसार, "विधवा अमंगल की सूचक थी। वह किसी भी उत्सव में यथा विवाह में किसी भी प्रकार से भाग नहीं ले सकती थी। उसे न केवल पूर्ण रूप से साधवी रहना पड़ता था चाहे वो बाल विधवा ही क्यों न हो उसका जीवन सन्यासी सदृश्य रहता था। कम भोजन, कम वस्त्र धारण करना पड़ता था उसको सम्पत्ति का अधिकार भी कुछ नहीं था।"[2]

मनु ने विधवा के पुर्नविवाह का विरोध किया है उसके अनुसार सदाचारी नारियों के लिए दूसरे पति की घोषणा कहीं नहीं हुयी है।[3] उन्नीसवी शताब्दी की एक कुप्रथा बहुविवाह ने भी नारी की दशा को शोचनीय बना दिया था।[4] यह प्रथा मुस्लिम धर्म में तो थी ही हिन्दुओं में भी पूर्ण रूप से व्याप्त हो गयी थी। बंगाल में बहुविवाह प्रथा सबसे अधिक प्रचलित थी। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तुकाराम की दो पत्नियां थी। बंगाल के कुलीन वर्ग के लोग बहु विवाह करते थे और बंगाल में ब्राह्मणों द्वारा भी बहु विवाह किया जाना सम्मान जनक माना जाता था।[5]

---

1. वी० एन० लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृद 720.
2. पी० वी० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र० लखनऊ, पृ० 331.
3. पी० वी० काणे, वही, पृ० 344.
4. हरिदत्त वेदालंकार : हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३४८.
5. एम० ए० बुश : राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इण्डियन लिबरलिज्म, फार्म राममोहन राय टु गोखले, बड़ोदा 1938. पृ० 53.

स्त्रियों की प्रगति की एक बहुत बड़ी बाधा पर्दा प्रथा भी इसी शताब्दी की देन है। पर्दा प्रथा का प्रचलन पूर्ण रूपेण समाज में व्याप्त था। प्राचीन काल में जो पर्दा आवश्यतानुसार या परिस्थिति वश ही रहता था वही पर्दा अब सदा रहने लगा।[1] इस सम्बन्ध में मेगस्थनीज का कहना है कि ''कोई स्त्री पर्दा नहीं करती थी, शाही परिवार की स्त्रियां पुरुषों के समान ही स्वतन्त्रता पूर्वक घूम फिर सकती थी, वो राजा के साथ हाँथी, घोड़ो पर चढ़कर शिकार पर जा सकती थी। भाष के प्रतिमा नाटक के प्रथम अंक से भी ज्ञात होता है कि धनी वर्ग की स्त्रियाँ यज्ञ विवाह या वन में या विपत्ति पड़ने पर पर्दा नहीं रखती थी।'' पर्दा प्रथा के प्रचलन के बढ़े का कारण मुस्लिम आक्रान्ताओं का आना ही था क्योंकि ऐसे विदेशी आक्रान्त जो इस धरती पर आते थे वो यहाँ के धन दान्य पशु एवं सौन्दर्य के लोभ में ही आते थे।[2]

बेमेल विवाह उन्नीसवी सदी में भारतीय समाज में नारी जाति के ऊपर एक अन्य अन्यायपूर्ण प्रथा थी। जिसने स्त्री जाति को परतन्त्रता के जंजीरों में जकड़ लिया था। बेमेल विवाह भी कुलीनता का द्योतक था। अवयस्क लड़कियों का विवाह अपने से अवस्था में कई गुना बड़े पुरुष के साथ कर देना आम बात थी। पुरूष अपनी पत्नी की मृत्यु अथवा सन्तान न हो जाने की स्थिति में इस प्रकार का नैतिक दृष्टि से घातक विवाह का कृत्य करते थे। जहाँ इससे पारिवारिक कलह चारित्रिक पतन होता था तथा स्त्रियों के सामाजिक उत्थान में भी बाधा आती थी। दुबाय ने इस प्रथा के सम्बन्ध में बड़े ही दु:ख के साथ लिखा है, ''मैं उन पाँच या छ: वर्ष की अभागिन कन्याओं का उल्लेख यहाँ नहीं करुँगा, जिनका विवाह साठ वर्ष के ऊपर के पुरूप से होता है, तथा अपने युवा अवस्था के पूर्व ही विधवा हो जाती है।[3] सर पी० सी० रे के अनुसार, ''तत्कालीन हिन्दू समाज में साठ वर्ष की आयु

---

1. एम० ए० बुश : वही, पृ० 54.
2. एम० जी० उपाध्याय : भारतीय सामाजिक क्रान्ति, पृ० 55.
3. एबे० जे० दुबाय : हिन्दू मैनर्स कस्टम एण्ड सेरेमनीज एच० के० ब्यूकंम्प द्वारा सम्पादित आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1968- पृ० 210.

का वर बारह अथवा चौदह वर्ष की कन्या के साथ विवाह कर सकता था और यह प्रथा सामान्य थी।''[1] डॉ० रेदित घोष एक तेरह वर्ष की एक ऐसी कन्या का उल्लेख करते हैं जिसका विवाह कलकत्ता के एक 75 वर्ष की अवस्था वाले धनी, तथा ख्याति प्राप्त व्यक्ति के साथ हुआ था।[2]

तात्कालीन सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित कन्या वध, एक ऐसी कुप्रथा थी जिसके पीछे कोई धार्मिक कारण नहीं वरन् इसमें आर्विभाव के पीछे कुछ सामाजिक कारण थे। जहाँ तक इसके प्रचलन का प्रश्न है तो यह उत्तर प्रदेश, राजस्था, गुजरात, पंजाब आदि में प्रचलित था। इस कुप्रथा से राजपूत जातियां ज्यादा प्रबावित थी इसके पीछे विवाह की मजबूरियां जो कुल परम्परा के अनुसार ही हो सकती थी। हिन्दू धर्म में मोक्ष की कल्पना जो की पुत्र प्राप्ति से ही संभव थी तथा वंश के निरन्तरता के लिए पुत्र का जन्म आवश्यक था। टॉड़ के अनुसार ''पुत्री का जन्म राजपूत पारिवारों के लिए एक दुखद घटना थी।[3] इससे स्त्री जाति से सम्बन्धित उक्त समस्याओं के समाधान के लिए कन्या वध जैसे कुप्रथाओं का प्रचलन हुआ था 1853 की रिपोर्ट के अनुसार यह प्रथा सभी जातियों में प्रचलित थीं।[4] मालवा तथा राजपूताना में प्रति वर्ष 20,000 कन्याओं का वध होता था।[5] बड़ौदा के निकट झरिया राजपूतों में यह प्रथा अत्यधिक प्रचलित थी।[6]

जहाँ एक ओर हिन्दूओं में कतिपय सामाजिक कुरीतयां थी वही मुसलमानों में 'जनाना'व्यवस्था थी। 'जनाना' के सम्बन्ध में पी० सी० राय ने लिखा है कि ''यह एक जीवन पर्यन्त

---

1. सर पी० सी० रे० : यूनिवर्सिटी कालेज ऑफ साइंस एण्ड टेक्नालोजी कलकत्ता भाग 6. पृ० 225
2. डॉ० रेदित घोष, चाइल्ड मैरिज द इण्डियन माइनेटर, पृ० 30
3. टॉड़, एन्नलस एण्ड सन्टीक्यूरस ऑफ राजस्थान, भाग प्रथम पृ० 505.
4. ब्राउन, जेन्सी इण्डियन इन फैन्टीसाइड इट्स ओरीजन एण्ड सप्रेसन लदन पृ० 108 से 129
5. ब्राउन वही, पृ० सं० 58.
6. वही, पृ० 31.

कारागार है जहाँ स्त्री असहाय अवस्था में अस्वस्थ जीवन व्यतीत करती हैं। फलस्वरूप उसकी स्वाभाविक इच्छाओं एवं क्षमताओं का अज्ञानता के कारण दमन हो जाात है। अंधविश्वासों में जलती हुई वह समाज के इस प्रथा के समक्ष शहीद हो जाती हैं।[1] फर्कुहर ने लिखा है कि—"उन प्रान्तों के उच्चवर्गीय हिन्दुओं ने जहाँ पर मुसलमान बहुसंख्यक एवं शक्तिशाली थे "जनाना" व्यवस्था को अपना लिया।"[2]

उन्नीसवी शताब्दी में वेश्यावृत्ति नारी समाज पर किए जाने वाले इन्ही अत्याचारों का परिणाम थी। अमानवीय व्यवहार से पीड़ित महिलाएं वेश्यावृत्ति में संलग्न हो जाती थी। हिन्दू समाज में मध्ययुग तथा उसके पूर्व भी वेश्यओं का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद काल में भी ऐसी स्त्रियाँ थी जो सभी की थी उन्हें वेश्या या गणिका कहा जाता था। ऋग्वेद में एक जगह कहा गया है कि मरूतगण विद्युत के साथ उसी प्रकार संयुक्त माने गए है जिस प्रकार युवती वेश्या से पुरुष लोग संयुक्त होते है।[3] मध्ययुग में भी वेश्यावृत्ति का प्रचलन था। मुगलकाल में वेश्याओं की सख्या तथा उनकी मांग इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि सम्राट अकबर को उनके लिए शहर से दूर तक एक पृथक्क नगर बसाने पर विवश होना पड़ा था। इस नगर का नाम उसने शैतानपुर रखवाया था।[4]

उन्नीसवी शताब्दी में एक और प्रमुख बुराई थी, स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखना। शिक्षा के अभाव में नारी अपने अधिकार एवम् स्वतन्त्रता तथा समाज के प्रति अपने दायित्वों से अनभिज्ञ मानव भावनाओं की शिकार थी। यह बहुत ही आश्चर्य की बात है कि जिस भारतीय समाज में वैदिक

---

1. पी० सी० राय, लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ सी० आर० दास (1927) पृ० 4
2. फर्कुहर, माडर्न रिलिजियस मूवमेण्ट इन इंडिया, पृ० 405.
3. पी० वी० काणे :धर्मशास्त्र का इतिहास, अनुवादक अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ, पृ० 253.
4. उपेन्द्र नाथ ठाकुर : ए हिस्ट्री ऑफ सोसाइड इन इंडिया, पृ० 129

काल में नारी शिक्षा की एक उच्चतर व्यवस्था थी, मध्य काल एवं उन्नीसवीं सदीं में इसका पुर्णत: अभाव पाया जाता है। मध्ययुग में केवल स्त्रियों को गृह कार्य की जिम्मेदारी सौंपी गयी थी। उन्नीसवीं सदी के पूर्व स्त्री शिक्षा के बारे में यह अन्ध विश्वास भी कार्य कर रहा था कि जो बालिका शिक्षा प्राप्त करेगी उसका पति विवाहोपरान्त शीघ्र ही मर जायेगा, अर्थात् वह विधवा हो जाएगी।[1]

बालिका को शिक्षा से वंचित रखे जाने के कई कारण थे। प्रमुख कारण बाल विवाह माना जा सकता है। बाल विवाह के कारण उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का अवसर ही नहीं मिल पाता था। पर्दा प्रथा का प्रचलन भी नारी शिक्षा के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा थी। इस शताब्दी में स्त्री पुरुषों को समान नहीं समझा जाता था। नाचना-गाना तथा पढ़ने लिखने का कार्य वेश्याओं का समझा जाता था।[2] तत्कालीन समाज में नारी शिक्षा को हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुदेशों के विरोध में समझकर हतोत्साहित किया जाता था।[3]

शिक्षा के प्रसार में बाधा पहुँचाने वाले कई कारण थे। विद्यालयों की संख्या बहुत ही कम थी। उचित वेतनमान के अभाव में कोई व्यक्ति शिक्षक बनने के लिए उत्सुक नहीं रहता था। बंगाल एवं बिहार में वर्नाकूलर शिक्षकों का वेतन तीन रूपये प्रति माह था, जो कि कलकत्ते के किसी घरेलू नौकर के पारिश्रमिक का आधा भी नहीं था तथा छात्र उनके नैतिक व्यक्तित्व से प्रभावित नहीं होते थे। वर्नाकूलर भाषाओं में प्रकाशित पुस्तकों का अभाव था।[4] उस समय मिशनरियों के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया गया था किन्तु उच्च कुल के लोग मिशन द्वारा चलाए गए स्कूलों में

---

1. एस० नटराजन : ए सेन्चुरी ऑफ सोशल रिफार्म इन इण्डिया, 1962, पृ० 178.
2. ए० एस० अलतेकर : पोजीशन ऑफ वोमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ० 24
3. आर० सी० मजूमदार : ग्लिम्पसेज ऑफ बंगाल इन नाइन्टीन्थ सेन्चुरी, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता 1960, पृ० 92.
4. आर० सी० मजूमदार : वही पृ० 92

अपने बालिकाओं को नहीं भेजते थे क्योंकि ईसाई नियमों का उद्देश्य धार्मिक अधिक था।[1] विद्यालयों में पाठ्यक्रम बहुत ही निम्नस्तर का था। यह पाठ्यक्रम शैक्षणिक दृष्टि से कम तथा साहित्यक दृष्टि से अधिक था। पुस्तकों में महाकाव्यों की कहानिया तथा देवी देवताओं की महत्ता का गुणगान रहता था।

भारतीय शिक्षा जो कुछ पुराणों में लिखा था, अथवा बाप दादाओं से, अतिरंजित कथाओं के रूप में जो कुछ सुनने को मिल जाता था वहीं तक सीमित था। इसके विपरीत, पाश्चत्य शिक्षा वैज्ञानिक वस्तुपरक, आलोचनात्मक बौद्धिक तथा युक्ति संगत प्रक्रियाओं से परिपूर्ण थी। इसके अलावा भारत में शिक्षा कुछ चन्द वर्गों तक का विशेष हित समझी जाती थी। भारत में अंग्रेजी भाषा का आकर्षण बढ़ रहा था, वे लोग जो अंग्रेजी भाषा के टूटे-फूटे शब्दों का उच्चारण कर लेते थे, समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते थे।[2]

उन्नीसवी शताब्दी में भारतीय समाज की अवनति का मुख्य कारण जाति प्रथा थी। जाति प्रथा ने भारतीय समाज को कई भागों में विभाजित कर दिया था। सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा और वर्ण व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संगठन के दो प्रधान स्तम्भ थे। वर्ग भेद के अन्तर्गत असंख्य जातियाँ और उपजातियों के विभाजन के कारण भारतवासियों को संगठित होने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। एक ही जाति के अन्दर अनेक उपजातियाँ एक दूसरे से अपने को श्रेष्ठ भावना से प्रेरित थी। बंगाल तथा दक्षिण में अस्पृश्यता की भावना देश के अन्य भागों की अपेक्षा कहीं अधिक क्रूर तथा कठोर थी। दक्षिण भारत में विशेपकर मलयालम में निम्न वर्ग की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। यदि कोई शूद्र घृष्टता पूर्वक किसी ब्राह्मण के घर में प्रवेश कर जाता था तो उसी स्थान पर शूद्र की

---

1. आर० सी० मजूमदार : वही, पृ० 61-62

2. डॉ० ताराचन्द : भारतीय स्वतनत्रता आन्दोलन का इतिहास, पृ० 159.

हत्या की जा सकती थी। इन्हें उच्च जाति के लोगों के बीच अस्पृश्य समझा जाता था यह छूने के योग्य नहीं थे।[1]

भारतीय वर्ण व्यवस्था जो वैदिक काल में कर्म पर आधारित थी एवम् एक खुली व्यवस्था थी। उन्नीसवी सदी के आते-आते कर्म पर आधारित न होकर जन्म पर आधारित हो गई थी एवम् एक बन्द व्यवस्था का रूप धारण कर लिया था। अब इसमें प्रवेश के लिए योग्यता एवं कर्म का कोई स्थान नहीं रह गया था। अस्पृश्यता के पीछे जो भावना काम कर रही थी उसको स्पष्ट करते हुये काणे ने लिखा है कि ''प्राचीन भारत में अस्पृश्यता सम्बन्धी जो विधान बने थे वे किसी जाति सम्बन्धी विद्वेष के प्रतिफल नहीं थे उनके पीछे मनोवैज्ञानिक या धार्मिक धारणाएं एवम् स्वस्थतत: सम्बन्धी विचार जो कि मोक्ष के लिए आवश्यक माने जाते थे क्योंकि मोक्ष के लिए शरीर व मन पवित्र होना अनिवार्य था।[2]

भारतीय धर्म ग्रन्थों में अछूत के लिए निम्न उद्‌गम श्रोतो का वर्णन मिलता है जो कि अस्पृश्यता को बढ़ाने से सहायक सिद्ध हुए। (1) कुछ विशेष व्यवसायों से संलग्न लोगों के साथ अछूतों जैसा व्यवहार किया जाता था चाहे वे जन्मत: उच्च जाति के ही क्यों न हो, (2) गैर हिन्दू धार्मिक सम्प्रदायों के मानने वालो को जिन्हें म्लेच्छ कहा जाता था द्वेष भाव के कारण भी अस्पपृश्य मान लिया गया। (3) समाज जिन कर्मों को पाप मानता था उन्हें करने वाले लोगों को जाति बहिष्कृत एवं अस्पृश्य समझा जाता था।(4) रजस्वला स्त्री का स्पर्श, शव स्पर्श के बाद भी छुआ छूत मानी जाती थी।[3]

---

1. एम० ए० बुश : राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इण्डियन लिबरलिज्म, बड़ौदा, 1938, पृ० 43
2. पी० वी० काणे : धर्म शास्त्र का इतिहास, पृ० 168.
3. पी० वी० काणे : धर्म शास्त्र का इतिहास, पृ० 168.

वैदिक वर्ग व्यवस्था में शूद्रों की सामाजिक स्थिति पहले से ही निम्न थी और इस सदी में वे अछूतों की स्थिति में अवस्थित कर दिये गये थे। अर्थात् करेला और उस पर नीम चढ़ा की कहावत चरिथार्थ हो गयी। रही सही कसर हिन्दू धर्माचार्यों, धर्मसूत्रों एवम् स्मृतियों ने शुद्रों के प्रति अनेक नियम बनाके स्थिति को और बिगाड़ दिया। वे अब शिक्षा, वेदाध्ययन आदि से दूर कर दिए गए। आप-स्तम्भ धर्म सूत्र के अनुसार शूद्र को मार डालने पर उतना ही पाप लगता है जितना कि एक कौवा, गिरगिट, मोर, चक्रवाक, राजहंस, मेढ़क, नेवला, छछूँदर, कुत्ता आदि को मारने से होता है।[1]

छुआछूत के चलते कभी-कभी हिंसात्मक स्थिति भी आ जाती थी इसी प्रकार की एक घटना मालाबार में घटित हुयी जिसके विषय में 'दुबाय' ने बताया ''यदि कोई पर्या जाति उच्च जाति के सीढ़ियों में चढ़ जाता था तो उसी स्थान पर उसकी हत्या कर दिए जाने की अधिकता थी। पर्याओं की बस्तियां पृथक थी, वे अलग मार्गों का प्रयोग करते थे उनके साथ दासो की तरह कठोर एवं निर्दयतापूर्वक व्यवहार किये जाते थे। वे जन्म से ही दास थे, तथा अपनी स्वामी की सम्पत्ति के अभिन्न अंग जिन्हे अन्य व्यक्तियों के हाथ विक्रय भी कर दिया जाता था। एक जवान पर्या का मूल्य तीन रुपय और सौ सेर चावल था। जो कि एक बैल की कीमत के बराबर था।''[2] इस प्रकार छुआ छूत की भावना के चलते भारतीय समाज में उच्च वर्ग को निम्न वर्ग पर शासन करने का अधिकार सा मिल गया था। अस्पृश्यता के चलते वे राष्ट्रीय ध्वाज से कट गए तथा अपनी स्थिति से पीछा छुड़ाने के लिए धर्मान्तरण का सहारा लेने लगे। ईसाई और इस्लाम धर्म की ओर आकर्षित हुए। नाना साहव, भीमराव अम्बेडकर के आने के बाद वे बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हुए।

हिन्दू धर्म की कट्टरता एवं उच्चता की भावना के चलते उच्च जाति के लोग विदेशियों को भी म्लेच्छ समझते ते। उनकी नजरों में यूरोपीय समाज की खान-पान की एवं बात व्यवहार की बाते भी

---

1. आप स्तम्भ धर्म सूत्र 1-9-9-25 तथा 14 तथा 1-9-26-1 (काणे के धर्मसास्त्र के इतिहास से उद्धत)
2. एबे० जे० दुबाय : हिन्दू मैनर्स कस्टम एण्ड सेरेमनीज, एच० के ब्यूकम्प द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1968, पृ० 56.

अधार्मिक थी फलतः वे कट्टरवादिता के चलते संसार में होने वाले विकास एवं परिवर्तनों से अछूते रह गये। तथा कुँए के मेढ़क के समान ही अपने संसार एवं स्थिति में ही संतुष्ट हो गए। जिससे प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया।[1]

इस रूढ़िगत समाज में एक और घृणित रीति दास प्रथा की थी। इसका लाभ उठाने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने इसे और पल्लिवत और पुष्पित किया क्योंकि उन्हे कृषि दास अपने उपनिवेशों के लिए चाहिए था। द कैम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री ऑफ इण्डिया में लिखा है दास प्रथा भारतीय समाज में पूर्व से ही प्रचलित थी। ब्रिटिश शासको ने इस प्रथा को फलने फूलने में और अधिक सहयोग दिया। दासों का व्यापार किया जाता था तथा ब्रिटिश के अन्य उपनिवेशों में भारत के दासों को भेजा जाता था।[2] दक्षिण भारत में परिया एवं बेरूमार जन्म से ही दासता की स्थिति में रहते थे। मालाबार में दास प्रथा बहुत अधिक थी।[3]

यह अलग बात है कि आज जिन-जिन देशों में जो कि ब्रिटेन के उपनितेश थे आज इन्हीं दासों की सन्ताने जो भारतवंशी है अपनी कड़ी मेहनत एवं लगन के बल पर बहुत समृद्ध हो गये है, तथा अपनी और उस देश विशेष की आर्थिक स्थिति को चला रहे है तथा भारत की भी विदेशी मुद्रा देकर लाभान्वित कर रहे है।

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वाध तक भारतीयों के लिए विदेश यात्रा निषिद्ध थी। समुद्री यात्रा करना धर्मानुकूल नहीं माना जाता था।[4] इस तरह के संकुचित विचार से भारतीयों को बहुत हानि हुयी। जहाँ एक ओर कोलम्बस और वास्कोडिगामा जैसे यात्री नए-नए स्थानों को खोज रहे थे वही

---

1. एन० जे० दुबा. : वही, पृ० 74
2. द कैम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री ऑफ इण्डिया पृ० 721.
3. एन० जे० दुबाय : हिन्दू मैनर्स कस्टम एण्ड सेरेमनीज, पृ० 58.
4. एस० नटराजन, ए० सेन्चुरी ऑफ सोशल रिफार्म इन इण्डिया पृ० 5

भारतीय अपने संकीर्ण क्षेत्र में ही मस्त थे। इससे एक हानि और हुयी विदेश यात्रा के निषेध के कारण ही हम पश्चिमी करण की गति को उतनी तेजी नहीं दे सके इसके फलस्वरूप भारत में जिस उदारवादी विचार धारा के मध्यम वर्ग का जन्म हो रहा था उसे गति नहीं मिल सकी।

भारतीय ब्रिटिश सम्पर्क में कुछ अच्छी चीजे तो नहीं ग्रहण कर सके परन्तु मद्यपान जैद्वी बुराइयों को ग्रहण कर लिए और अंग्रेजो को इससे राजस्व की प्राप्ति में लाभ हुआ जिसके चलते वे इसको और प्रभावित करने लगे। अभिजात्य वर्ग के लोग इसको अपनी कुलीनता का प्रतीक मानते थे। भारत में मद्यपान की गति की तीव्रता का पता 1832 में ब्रिटिश संसदीय समिति के समक्ष मिस्टर ब्रेकन के इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है। ''अब कलकत्ते में उन हिन्दुस्तानियों के अन्दर जो शराब पर खर्च कर सकते हैं तरह-तरह की शराबें बहुत बड़ी मात्रा में खपती हैं -------- मैंने कलकत्ते के एक नेटिव दुकानदार से, जो वहां के बड़े-बड़े खुर्दा फरोशों में से है, सुना है कि उसके शराब, ब्राण्डी, और बियर के ग्राहकों में से अधिकांश ग्राहक हिन्दुस्तानी हैं।[1] अन्य अंग्रेजी अधिकारियों ने भी ब्रिटिश संसदीय समिति के समक्ष स्पष्ट वक्तव्य दिया कि यूरोपीयों के संसर्ग से भारतवासियों में मद्यपान, विलायती ऐशो आराम व अन्य प्रदर्शन हेतु सामान खरीदने की प्रकृति बढ़ती जा रही है।[2] जबकि पूर्व भारतीय समाज में इसको घृणित स्थान प्राप्त था, तथा शिक्षित लोग इसे पिछड़े होने के रूप में देखते थे। लेकिन इस शताब्दी में इसका प्रचलन बहुत तीव्रता से हुआ। इस सन्दर्भ में बंगाल की स्थिति का वर्णन एन० एस० बोस ने किया ''व्यक्तिगत एवं समूह गत रूप से मादक पदार्थों का सेवन किया जाता था, यहां तक कि इस कार्य के लिए कलकत्ता में समितियाँ भी थी। रईसों के मध्य थोड़ी-थोड़ी आत्मप्रसंशा, मिथ्या अहंकार, विश्वासघात सामान्य दुर्गुण थे। कर्त्तव्य निष्ठा एवं सच्चे व्यक्ति

---

1. पं० सुन्दरलाल, भारत में अंग्रेजी राज, 1961 पृ० 578.
2. वही, पृष्ठ 579

समाज में बहुत कम थे।[1] धीरे-धीरे इस कर्म को धार्मिकता से जोड़ दिया गया तथा अनेक धार्मिक अनुष्ठानों में इसका प्रयोग होने लगा। अब यह अभिजात्य वर्ग से निम्न तथा मध्यमवर्ग में भी प्रचलित हो गया जिसमें चलते आर्थिक स्थिति पर फर्क पड़ने लगा तथा भविष्य चौपट होने लगे।

दहेज जैसी कुप्रथा भी इस शताब्दी तक भारतीय समाज में अपनी जड़े जमा चुकी थीं। आधुनिक शिक्षा के साथ ही साथ दहेज बढ़ता गया।[2] अनेक माता-पिता अपनी पुत्री के विवाह में इतने अधिक ऋणग्रस्त हो जाते थे कि उन्हें अपना शेष जीवन ऋणी या बंधक व्यक्ति के रूप में व्यतीत करना पड़ता था। क्योंकि वे उसका भुगतान नहीं कर पाते थे।[3] प्रचीन समय में दहेज का प्रचलन नहीं था। पिता अपनी क्षमतानुसार अपनी पुत्री को उसके नव जीवन की सफलता की कामना करते हुए तथा उसके गृहस्थ जीवन में सहयोग देने के उद्देश्य से उसे धन धान्य एवं गृहस्थ जीवन से जुड़ी हुए वस्तुएं प्रदान करता था। इसमें कोई मांग नहीं होती थी। अर्थात् यथाशक्ति पुत्र का पिता खर्च करता था। उसके लिए कोई बाध्यता नहीं होती थी। लेकिन शिक्षा के बढ़ने के साथ-साथ दहेज की मांग बढ़ती चली गयी और परिणाम यह हुआ कि दहेज कन्या के माता-पिता के लिए भयकारक होता चला गया। दहेज प्रथा के चलते पिता हमेशा वर पक्ष से दबा रहता था तथा हमेशा वर पक्ष भी आर्थिक दृष्टि से सन्तुष्टि करने का प्रयास करता था। यदि वर पक्ष द्वारा मांगें गये दहेज की पूर्ति कन्या का पिता नहीं कर पाता था तो उसकी लड़की आजीवन यातना, प्रताड़ना तथा घुटन की जिन्दगी बिताते हुए असम्मानित जीवन जीती थी। जिससे उसका स्वाभाविक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता था उन्हें पैदा होते ही मार डाला जाता था। कभी-कभी पिता के कष्टों को कम करने के लिए

---

1. वोस एन० एस०,इण्डियन अवेकनिंग एण्ड बंगाल, 1960, पृ० 6.
2. जे० एन० फुर्कहर : मार्डन रिलीजियस मूवमेन्ट्स इन इण्डिया, ओरियण्टल पब्लिशर्स एण्ड बुकसेलर्स, दिल्ली, 1967, पृ० 406.
3. जे० एन० फुर्कहर, वही, पृ० 406.

कन्यायें स्वयं आत्म हत्या कर लेती थीं।[1] दहेज से जुड़ी अन्य कुरीतियां बढ़ने लगी थी क्योंकि कभी-कभी दहेज न दे पाने की स्थिति के चलते कन्याओं का विवाह किसी भौतिक वस्तु से कर दिया जाता था, या फिर उन्हें आजीवन मन्दिरों की सेवा के लिए समर्पित कर दिया जाता था जिससे वे देवदासी बन जाती थीं, और इस प्रकार पण्डे पुजारियों के द्वारा उनका दैहिक और यौन शोषण होने लगता था। बाल विवाह भी इसी कड़ी का एक अंग था। बचपन में विवाह करने पर विवाह कम दहेज में हो जाता था जिससे बाल विवाह प्रचलित होने लगे। कन्या भ्रूण की हत्या भी इसी से सम्बन्धित एक कारण है। माता-पिता जन्म लेने से पहले या जन्म के बाद कन्या होने की दशा में ऐसे बच्चो ंकी हत्या कर देते थे। दहेज के चलते कन्या के माता-पिता धन प्राप्ति की अभिलाषा से अवैध कार्यों में भी लिप्त हो जाते ते। जिससे समाज में अनैतिक और गैर कानूनी कार्यों को बढ़ावा मिलता था। क्योंकि दहेज आर्थिक स्थिति से जुड़ी समस्या हैं अत: इसका कुप्रभाव गरीबों को तोड़ देता था। तथा गरीब और अधिक गरीब हो जाता था। और बंधुवा मजदूर तक बनने को बाध्य हो जाता था। अमीरों के लिए तो यह प्रदर्शन का एक बहाना होता था। इसके द्वारा वे अपने धन और वैभव का प्रदर्शन करते थे। धनी वर्ग को तो दहेज की कोई चिन्ता नहीं थी क्योंकि वे दहेज देने में सक्षम थे। बंगाल के बहुतरे जमींदार तो पशुओं के विवाह में हजारों रूपये व्यय कर देना अपना सम्मान समझते थे।[2]

तत्कालीन समय में समाज में एक धूर्तता और भी व्याप्त थी। वह थी ढगी। ढगी से तात्पर्य जालसाजी से हैं। अर्थात् किसी के भोलेपन का लाभ उठाकर उससे धन या वस्तुओं को ऐंठना इसके अतिरिक्त ठगी जैसे घृणित कार्य को भी इस सदी के समाज में दैवी प्रकोप के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इससे पतित सामाजिक स्थिति और क्या हो सकती है। रास्ता चलते राहजनी करना तथा चोरी

---

1 एस० नटराजन : ए सेन्चुरी ऑफ सोशल रिफार्म इन इण्डिया, पृ० 406.

2. एन० एस० बोस इण्डियन अवेकनिंग एण्ड बंगाल, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1960, पृ० 5.

करके हत्या कर देना आम बात थी ठगों के प्रति सामान्य धारणा यह थी कि ठगी व्यक्ति के दुर्भाग्य से होती है और उसके विरुद्ध कार्यवाही के लिए पहल करना 'देवीगणों' को सताकर देवी को रूष्ट करना है।[1]

इस सभी सामाजिक कुप्रथाओं के प्रचलन के पीछे अंध विश्वास एवं धर्म के सही स्वरूप का ज्ञान का न होना ही था, और ऐसा इसलिए था कि बहुसंख्यक जनता अशिक्षित थी। अशिक्षा के चलते वे तार्किकता से काम न लेकर लकीर ही पीटते थे। और ऐसी स्थिति में उसका लाभ समाज में धूर्त लोग उठाते थे। संस्कृत शिक्षा का पूर्णत: लोप हो गया था जिसके कारण हम अपने वेद या धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कर पाते थे। अत: जो धर्म के बारे में पुरोहित या ब्राह्मण कह देते थे, उसे ही स्वीकार कर लिया जाता था। संस्कृत शिक्षा का विनाश इस सदी की देन नहीं वरन् यह तो मुगलकाल से ही अपने मृतप्राय अवस्था में जा चुकी थी। उच्च संस्कृत शिक्षा के लिए प्रमुख प्रमुख नगरों में विद्यापीठ होते थे। दैनिक जीवन के लिए उपयोगी गणित व भाषा आदि की शिक्षा इन विद्यालयों मे दी जाती थी। सामान्य जनों की शिक्षा के लिए टोल, मकतब और मदरसे थे जिनमें उर्द एवं फारसी की शिक्षा दी जाती थी।[2]

शिक्षा के प्रसार में मुख्य बाधा प्रथम तो विद्यालयों में भवन का अभाव; उचित वेतनमान के अभाव में शिक्षक का पेशा कम आकर्पक, बंगाल एवं बिहार में बर्नाकुलर शिक्षकों का वेतन 3 रुपये प्रति माह था जो कि कलकत्ता के घरेलू नौकरों के बराबर तो दूर आधा भी नहीं था। इसके अतिरिक्त शिक्षकों का व्यक्तित्व भी इतना प्रभावशाली नहीं था कि विद्याथी उससे आकर्षित होतें।[3] इसके अतिरिक्त शिक्षा का पाठ्यक्रम भी बड़ा ही निम्न स्तरीय था। शिक्षा के नाम पर कपोलकल्पित कथायें

---

1. दि कैम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० 725.
2. एन० एस० बोस : दि इण्डियन अवेकनिंग एण्ड बंगाल, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1960, पृ० 6.
3. आर० मी० मजूमदास : ग्लिम्पसेज ऑफ बंगाल इन नाइनटीन्थ सेन्चुरी, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1960, पृ० 92.

या देवी देवताओं की महत्ता का गुणगान होता था, तथा पाठ को तोता रटन्त विद्या से पढ़ना पड़ता था। अंग्रेजी के चार टूटे फूटे अक्षरों के ज्ञान को ही शिक्षा समझा जाता था, तथा जो लोग अंग्रेजी के अल्पज्ञान को प्राप्त कर लेते थे वे समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते ते। नारी की शिक्षा तो और भी निम्न स्तरीय थी।[1]

अतः शिक्षा के अभाव में भारतीय समाज आधुनिक विश्व के नवीन ज्ञान, नवीन दार्शनिक एवं राजनैतिक उदारवादी सिद्धान्तों तथा तथ्यों से अनभिज्ञ रह गया था। जिसके चलते न तो उनमें सामाजिक चेतना थी न ही राजनैतिक चेतना। उन्नीसवी सदी में भारत की इस सामाजिक दशा का पुनरोद्धार में आन्दोलन को समझने में, उदारवादी मूल्यों की स्थापना में, पृष्ठभूमि के रूप में महत्वपूर्ण योगदान होगा। क्योंकि कोई भी विचार या आन्दोलन अपनी परिस्थितियों एवं दशाओं से प्रभावित होता है।

धर्म ने प्राचीन समय से ही भारतीय जीवन मूल्यों को प्रभावित एवं निर्देशित किया है। हिन्दु दर्शन में धर्म एक प्रमुख पुरुषार्थ है। धर्म जो की आस्था और विश्वास का प्रश्न है अर्थात् धर्म को किसी पर थोपा नहीं जा सकता है। अर्थात् धर्म को मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। हिन्दू धर्म तो ऐसा ही उदारवादी धर्म है कि इसको पालन करने की विभिन्न धारायें है तथा अपने विश्वास और आस्था के अनुसार आप अपने तरीके से धर्म का पालन कर सकते हैं। लेकिन उन्नीसवीं तक के एक लम्बे यात्रा काल में हिन्दू धर्म तमाम प्रकार के झंझावतों को सहते हुए दिग्भ्रमित हो गया था। जब धर्म ही अपने मूल उद्देश्य से भटक जाय तो उस पर आधारित सामाजिक राजनीतिक व्यवस्थाओं का ह्रास होना तो स्वभाविक ही है। वास्तव में इस सदी तक धर्म अपने मूल उद्देश्य एवं स्वरूप का परित्याग कर चुका था। हिन्दू धर्म तमाम प्रकार के पाखण्डों से युक्त हो रहा

---

1. आर० सी० मजूमदार, वही, पृ० ९२.

था। हिन्दू धर्म में आयी बुराईयों ने इसको बहुत आघात पहुँचाया तथा यह कमजोर होता चला गया। रही-सही कसर अंग्रेजों ने पूरे कर दिये अंग्रेजी साम्राज्यवादियों ने हिन्दू धर्म पर प्रारम्भ से ही अत्याचार करने प्रारम्भ कर दिये थे। ईसाई धर्म का प्रचार भी जोर-शोर से प्रारम्भ हो चुका था। जो इसे अपना ध्येय बना कर कार्य कर रहे थे कि हर परिस्थितियों में भारत में ईसाई धर्म का प्रसार एवं प्रचार करना आवश्यक है।[1] ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अध्यक्ष मैंगल्स ने 1857 में पार्लियामेन्ट के अंदर कहा था कि ; "परमात्मा ने हिन्दूस्तान का विशाल साम्राज्य इंगलिस्तान को इसलिए सौंपा है कि ताकि हिन्दुस्तान में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसा मसीह का विजयी पताका फहराने लगे। हममें से हर एक को अपनी पूरी शक्ति इस कार्य में लगा देनी चाहिए ताकि सारे भारत को ईसाई बना लेने के महान कार्य में पूरे देश भर के अंदर कहीं पर किसी कारण जरा भी ढील न आने पावे।[2]

हिन्दू धर्म में मूर्ति पूजा का एक विशिष्ट स्थान था। आदिम अवस्था में भी व्यक्ति अपने लाभ हानि के भय से अग्नि, वायु, जल आदि की उपासना करता था। इस उपासना का कोई संस्थागत आयाम नहीं था। ब्रिटिश काल में मूर्तिपूजा ने अपना संस्थागत स्वरूप बना लिया था। इस काल में ईसाई धर्म का प्रचार तथा प्रसार करना उनका परम ध्येय था। मिस्टर कैंनेडी ने लिखा है : "हमारा प्रमुख कार्य भारत भूमि में ईसाई धर्म का प्रचार करना है। जब तक कन्याकुमारी से हिमालय तक का पूरा भारत इस्लाम तथा हिन्दू धर्म को छोड़कर ईसाई मत ग्रहण नहीं करता, हमारी कोशिसें दृढ़ता से जारी रहनी चाहिए। इस कार्य मं सफलता प्राप्त करने हेतु हमें अपनी सारी राजनीतिक शक्ति भी लगा देनी चाहिए।"[3]

---

1. आर० सी० अग्रवाल, भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संविधान, एस० चन्द कम्पनी लि० रामनगर नई दिल्ली, 1992-पृ० 27.
2. आर० सी० अग्रवाल, वही, पृ० 27.
3. कैंनेडी : इण्डियन फ्रीडम स्ट्रगल, सेन्चुरी सौबेनियर, पृ० 39

इस समय हिन्दू समाज में मूर्तिपूजा में मूर्तियों की स्थापना, पूजा पाठ तथा देव मूर्तियों की सेवा सुश्रुवा की रीतियों बड़ी कठिन थी। मूर्तियों को स्नान करना, वस्त्र पहनाना, शृंगार करना, भोजन कराने, सुलाने व उनको दर्शन हेतु देवालयों से बहार लाने के कार्य निष्ठापूर्वक एवं शास्त्रों के निर्देशों के अनुसार ही किया जाता था।[1] देवी पूजा में बकरो तथा भैसों का बलिदान दिया जाता था। लोगों में अंध विश्वास की भावना भी पूर्ण रूप से घर कर गयी थी कि गंगा स्नान करने से, ब्राह्मणों, वैष्णों को दान देने से तीर्थों में भ्रमण करने से, अन्नजल छोड़कर व्रत करने से सारे पापों से मुक्ति मिल सकती है। मूर्ति पूजा से भाग्यवाद अंधविश्वास तथा दैवी न्याय के प्रति आस्था प्रबल हुयी तथा आत्मविश्वास की भावना में कमी आयी जो कि राष्ट्रीय हितो की दृष्टि से घातक था।[2]

तत्कालीन समाज में विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्ड, धार्मिक प्रतीक, व्रत साधु व फकीर, श्मसान मकबरों व समाधियों की पूजा, जादू होटे, भूत-प्रेत पूजा, पेड़-पौधों की उपासना सर्वत्र विद्यमान थी। दैवी न्याय के सिद्धान्त को स्वीकार कर भाग्यवाद पर भरोसा किया जाने लगा था अपनी इन्हीं कमजोरियों के कारण मूर्ति पूजा पर अन्य धर्म की ओर से कटु प्रहार किये जा रहे थे। ईसाई मिशनरियों ने मूर्ति पूजा पर आरोप लगाते हुए कहा : "तुम्हारे देवता शैतान है और कुछ नहीं, मूर्तिपूजा के अपराध के प्रायश्चित स्वरूप तुम नर्क की शाश्वत ज्वालाओं में जलोगे।"[3] तथा हिन्दू देवताओं की मूर्तियों को घृणित एवं विचित्र राक्षसों की संज्ञा दी गई।[4]

मूर्ति पूजा की तरह बहु देववाद भी हिन्दू धर्म के अन्दर एक अन्य कुप्रथा थी जिसके कारण धार्मिक संकीर्णता का जन्म हुआ, और वह राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक सिद्ध हुयी। वैदिक

---

1. एने० जे० दुबाय : हिन्दू मैनर्स कस्टम एण्ड सेरेमनीज, पृ० 581
2. एने० जे० दुबाय :वहीं, पृ० 581.
3. Refrence—एने० जे० दुबाय, हिन्दू मैनर्स कस्टम एण्ड सेरेमनीज, पृ० 576 58.
4. Refrence—एन० एस० बोस इंडियन अवेकनिंग इन बंगाल, पृ० 8.

कालीन वर्ण व्यवस्था से ही ब्राह्मण समाज में सम्मानपद जीवन व्यतीत कर सामाजिक जीवन के आदर्श बने हुए थे। पी० वी० काणे ने ब्राह्मणों की स्थिति के बारे में बताया : ''ऐसी बात नहीं है कि ब्राह्मणों ने जानबूझकर अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए धर्मशास्त्रों एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों में अपनी स्तुतियाँ कर डाली हैं क्यंकि जब तक उन्हें अन्य वर्गों द्वारा सम्मान प्राप्त न होता और वह शताब्दियों तक अक्षण्ण चला न जाता तब तक उन्हें इतनी महत्ता प्राप्त नहीं हो सकती थी क्योंकि ब्राह्मणों के हाथ में राज्य की सैनिक शक्ति नहीं थी कि वे जो कुछ चाहते वही होता। यह तो उनकी जीवानचर्या, जीवन मार्ग व आचरण शैली थी जिससे इतनी महत्ता उन्हें प्राप्त हो सकी।------ यह मानी हुई बात है कि सभी ब्राह्मण एक से नहीं थे किन्तु बहुत से ऐसे थे जिन पर आर्य जाति की सम्पूर्ण संस्कृति का भार रखा जा सका और उन्होंने उसका विकास, संरक्षण तथा संवर्धन करने में अपनी ओर से कुछ भी उठा न रखा। इसी से आर्य जाति सदैव से ब्राह्मणों के समक्ष नत रही है।[1]

समाज में पुरोहित का वर्चस्व बढ़ गया था। सामाजिक और धार्मिक जीवन पूर्णत: पुरोहित के अधिपत्य में थे। पुरोहित को सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में कुछ विशेष दायित्वों का निर्वाह करना पड़ता था। जैसे किसी कार्य के प्रारम्भ करने का मुहूर्त, नक्षत्रों एवं ग्रहों की शांति के लिए मंत्रों द्वारा प्रार्थना, शिशुओं का नामकरण, जन्मकुण्डली निर्माण, अशुद्रों की शुद्धि, नवनिर्मित गृहों एवं जलाशयों के लिए शुभकामना मंदिरों एवं मूर्तियों में मन्त्रशक्ति से देवत्व स्थापना आदि।[2] धार्मिक एकाधिकार के कारण समाज के सारे नियम एवं व्यवस्थाएं इन्हीं के हाथों में एकत्रित थी। वेद और उपनिषदों का अध्ययन समाप्त हो गया था विवेकपूर्ण विचारों का स्थान अंधविश्वास व बुद्धिहीन सनातनत्व ग्रहण करता गया।[3]

---

1. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 156.
2. एने० जे० दुब्राम : हिन्दू मैनर्स कस्टमस एण्ड सेरेमनीज, पृ० 134.
3. एन० एस० बोस : इण्डियन अवेकनिंग एण्ड बंगाल, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1960 पृ० 7.

सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक विश्वास ने न केवल समाज की विकास की धारा में अवरोध का काम किया बल्कि आर्थिक विकास को भी पंगु कर दिया। परम्परागत भारतीय जीवन दर्शन का आदर्श था निर्धनता एवं त्याग की भावना, आर्थिक उपलब्धियां, आध्यात्मिक उपलब्धियों के सामने नगण्य थी। लेकिन वर्तमान समय में लोग की चिनता छोड़कर वे वर्तमान स्थिति पर ही संर्घष करने लगे थे तथा परलोक सम्बन्धी चिन्तन में अकर्मण्य एवं पलायनवादी हो गये थे। जिसका असर भारत की आर्थिक स्थिति पर पड़ा। दूसरी तरफ विदेश यात्रा निषेध की भावना ने भारतीयों को कूप मन्दूक बना दिया था। विश्वास के आगे तर्क का कोई महत्व नहीं रह गया था। अपनी यथास्थिति पर सन्तोष और भाग्य का फल मानकर कर्म हीनता की स्थिति आ गयी थी। समाज में श्रम एवं पूंजी की गतिशीलता जाति व्यवस्था के कारण अवरुद्ध हो गयी थी। भारतीयों का नैतिक तथा चारित्रक दृष्टि से पूर्णत: पतन हो गया था। विदेशी नकल ने सासंकृतिकता का भी ह्रास कर दिया था। इसी के चलते भारत ने अपना विश्व में जो स्थान बना रखा था उसको खो दिया। अब आवश्यकता इसी बात की थी कि भारत की उस पुरानी गौरव शाली परम्परा को पुर्नजीवित किया जाए और भारत के सम्मान को पुन: लौटाया जाय और भारत एक बार फिर से अपनी आर्थिक सामा्जिक राजनैतिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक परम्पाओं के सहारे विश्व का गुरू बन सके।

राजनीतिक विचार— उन्नीसहवीं शताब्दी में जहां भारत सामाजिक, धार्मिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से पूर्ण पतन के गर्त में चला गया था, वहीं राजनीतिक स्थिति भी अधिक दयनीय हो गयी थी। इस सदी के आते-आते अंग्रेजों ने राजनीतिक दृष्टिकोण से भारत में प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। व्यापारी बन कर आये हुए अंग्रेजों ने शासकों का स्थान ले लिया। अब जो बची खुची रियासतें थी उनकों भी किसी न किसी बहाने से अंग्रेज अपने अधीन करते जा रहे थे. आर्थिक रूप से तो भारतीय पहले ही गुलाम हो गये थे अब राजनीतिक रूप से भी गुलामी हो गयी थी। क्योंकि अंग्रेज कोई भी बहाना ढूंढ कर भारतीय राजाओं को अपने अधीन होने को बाध्य कर देते थे। ऐसा न करने की स्थिति में आक्रमण रूपी हथियार तो उनके पास था ही।

उन्नीसहवीं सदी का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि क्या इस शताब्दी में भारत एक राष्ट्र था? क्या राष्ट्रीय भावनाएं भारतवासियों के अंत:करण में उचित मात्रा में थी? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। भारत में राष्ट्रवाद के मूल तत्वों का भी लोप हो गया था। भारत की तात्कालिक राजनीतिक मनोवृत्तियों पर थामस मुनरों ने लिखा है—''राजनीतिक क्रान्तियों या परिवर्तनों में उनकी कोई रूचि नहीं है, शासकों की विजय या पराजय से वे अपने को सम्बद्ध नहीं मानते, यह केवल शासकों के सौभाग्य या दुर्भाग्य का प्रश्न होता था, कि वे दूसरों को उतना सम्मान देते हैं। जितना कोई उनके धार्मिक विश्वासों को मान्य करते हैं।[1] इस संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि जिस देश में जाति, धर्म संस्था व भाषा पृथक-पृथक हैं वहां राजनीतिक एकता का प्रश्न ही नहीं उठता है। विदेशी अधिपत्य के संयोग मात्र से समूह बद्ध हो गए थे। प्राचीनकाल की स्मृतियों को संजोए हुए पृथक तत्व की भावना से लोग रहते थे। दुर्बल शासकों महत्वाकांक्षी तथा निरकुंश सेनापतियों राजनीतिक विप्लवों लूटमार आदि के कारण जीवन में कोई व्यवस्था नहीं रह गयी थी। भारतीय समाज की इन सामाजिक धार्मिक कुरीतियों तथा फूट के कारण राजनीतिक दासता व साम्राज्यवादी आर्थिक शोषण संभव हुए। इन्ही परिस्थितियों का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने भारत में ब्रिटिश राज्य की नीव सुदृढ़ की। भारत के सम्पूर्ण भाग में रहने वाले विभिन्न वर्गों में एकता परस्पर स्नेह एवं सहानुभूति का व्यवहार नहीं थे। राजनीतिक दृष्टि से वे परस्पर ईर्ष्या करते थे। उत्तरी भारत के लोग बंगालियों को अंग्रेजों की भांति विदेशी मानते थे। मराठों के द्वारा अतीत में जो व्यवहार एवं अत्याचार बंगालियों पर किए गये थे, उस कारण से बंगाली मराठों को न केवल अंग्रेजों की भांति विदेशी मानते थे वरन् उनसे घृणा भी करते थे। इसीलिए अंग्रेजों ने बंगाल को अपना मुख्यालय बनाकर मराठा व गोरखा आदि शक्तियों से युद्ध किया था। धनाण्य एवं प्रतिष्ठित बंगाली ब्रिटिश सेना

---

1. एच० एच० ड्राइवेल द्वारा सम्पादित शार्टर हिस्ट्री आफ इंडिया पृष्ठ 715.

के भारत विजय अभियानों की सफलता के लिए नियमित रूप से प्रार्थना किया करते थे तथा स्वेच्छा से अंग्रेजों को सहायता धनराशि भी दिया करते थे।[1]

1757 के प्लासी युद्ध में ब्रिटेन की विजय ने भारतीयों की कमजोरी को उजागर कर दिया था। भारत की रही सही शक्तियों का पूर्णत: पतन हो गया था। 1757 से 1857 के काल में अंग्रेजों ने सारे देश के लिए समान शासन नीति तथा प्रशासनिक व्यवस्था बनायी और समूचे राष्ट्र केऊपर अग्रेजों का प्रबुद्ध कायम हो गया। ब्रिटिश उपनिवेश वादियों ने आरम्भ से ही फूट डालों और शासन करो की नीति को अपनाकर भारत की राजनीतिक एकता को विनष्ट कर दिया था उन्नीसवी शताब्दी में अपने साम्राज्य के विस्तार करने के लिए अपनी इन्ही कूटनीतिक चाल भरी नीतियों से सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक सभी क्षेत्रों में शोषण करना प्रारम्भ कर दिया।

सन् 1821 में एक अंग्रेज अधिकारी ने लिखा ''राजनैतिक अथवा सैनिक क्षेत्र में हमारे प्रशासन का मूल सिद्धान्त 'फूट डालों और शासन करो' होना चाहिए। सन् 1857 के पश्चात एक उच्च सैनिक अधिकारी ने कहा हमारा प्रयास यह होना चाहिए कि भिन्न-भिन्न धर्मों और जातियों के लोगों में सौभाग्य से जो भेदभाव उपस्थित है उसे पूरे जोरो से कायम रखा जाय। हमें उन्हें मिलाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।''[2]

सन् 1813 में सर जान मैकलन ने जो उन खास अनुभवी नीतिज्ञों में से था जिन्होंने उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ में भारत के अन्दर अंग्रेजी राज्य को विस्तार दिया। ब्रिटिश संसदीय जॉच समिति के समक्ष कहा था। '' इस समय हमारा साम्राज्य इतनी दूर तक फैला हुआ है कि जो असाधारण ढंग की हुकूमत उस देश में कायम की है उसके बने रहने के लिए केवल एक बात का ही हमें सहारा है

1. आर० सी० मजूमदार : ग्लम्पसेज ऑफ बंगाल इन दि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याया कलकत्ता 1960, पृ० 18.

2. आर० पी० दत्त : 'आज का भारत' द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, 1977 पृ० 463.

वह यह है कि जो बड़ी-बड़ी जातियां है और जातियों में फिर अनेक जातियां एवं उपजातियों है जब तक ये लोग एक दूसरे से बँटे रहेंगे तब तक इस बात का डर नहीं है कोई भी बलवा हमारी सत्ता को हिला सके।''[1] सन् 1813 में ही जाँच के समय मेजर जनरल स्मिथ ने कहा था कि ''अभी तक हमने साम्प्रदायिक और धार्मिक पक्षपात द्वारा ही युवक को वश में रखा है ---- हिन्दूओं के खिलाफ मुसलमानों को और इसी तरह उप जातियों को एक दूसरे के खिलाफ -----।''[2] सन् 1857 के विद्रोह के पश्चात् अपनी उनिवेशवादी नीत को स्पष्ट करते हुए कर्नल जॉन कोक ने लिखा, ''हमारी कोशिश यही होनी चाहिए कि भिन्न-भिन्न धर्मों एवं जातियों के लोगों में हमारे सौभाग्य से जो एकता मौजूद है उसे पूरे जोरों में कायम रखा जाय। हमें उन्हें मिलाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। भारत सरकार की नीति यही होनी चाहिए कि 'फूट डालों और राज्य करो।''[3]

अंग्रेजों की इसी नीति के कारण राजनीतिक दासता व साम्राज्यवादी शोषण सम्भव हुए साथ ही अंग्रेजी राज्य ने अपनी ध्वन्सात्मक भूमिका भी अदा की और भारत में राष्ट्रवादी भावना को जन्म दिया। अपने राज्य से संलग्न भारतीय राज्यों से मैत्री दिखाकर तथा अन्य पड़ोसी अथवा बाहरी शक्तियों के आक्रमण का भय दिखाकर अंग्रेजों ने उन राज्योंके शुभ चिन्तक होने का स्वांग रचा जो आपस में अपनी-अपनी शक्ति को बढ़ाने का उपाय सोच रहे थे। इन राज्यों को सैनिक सहायता का आश्वासन देकर अपने ऊपर आश्रित कर लिया। इस प्रकार अंग्रेजो के भारतीय नरेशों की नीति पर नियंत्रण स्थापित किया। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने अपनी सेना के खर्चे का बोझ राज्यों पर लाद दिया और अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार का भारी बोझ भी भारतीय नरेशों पर डाल दिया। यह आक्रामक नीति वेलेजेली की सहायक सन्धि के नाम से जानी जाती है। इस प्रकार की नीति के फलस्वरूप भारतीय

---

1. पं० सुन्दर लाल : भारत में अंग्रेजी राज्य, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली, 1961, पृ० ९९०.
2. पं० सुन्दरलाल : वही, पृ० ९९०.
3. पं० सुन्दर लाल : भारत में अंग्रेजी राज्य, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली, 1961 ९९०

राज्यों की समाज तथा आन्तरिक प्रभुता का निरन्तर अतिक्रमण होता था। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के मध्य तक अंग्रेजी हस्तक्षेप व्यापक हो गया। जिसके फलस्वरूप प्रशासनिक अव्यवस्था फैलती गयी क्योंकि यह हस्तक्षेप बिना उत्तरदायित्व के थे।[1]

वेलेजली की सहायक सन्धि के द्वारा चौथे आग्लं मैसूर युद्ध (1799) के पश्चात दक्षिणी कन्नड़ तट, द० पू० प्रदेश में वैनाड कोयम्बटूर, दारूपुरम और श्रीरंगापट्टम अपने क्षेत्र में शामिल कर लिए। इसके अतिरिक्त 12 अक्टूबर 1800 की निजाम से संशोधित सहायक सन्धि से कम्पनी को बलेरी और कुड्डापह जिले मिल गये। अवध के नवाब बजीर को सन्धि के लिए बाध्य किया जिससे कम्पनी को रूहेलखण्ड फरूर्खाबाद, मैनपुरी, इटावा, कानपुर, फतेहगढ़, इलाहाबाद, आजमगढ़, वस्ती तथा गोरखपुर जिले मिले। इसी क्रम में द्वितीय आग्ंल मराठा युद्ध से कम्पनी को ऊपरी दोआब, जयपुर, जोधपुर, गोहद की राजपूत रियासते भड़ौच का भाग, अहमदनगर के दुर्ग तथा उड़ीसा में कटक मिल गये। वेलेजली ने तंजौर, सूरत और कर्नाटक का शासन भी अपने हाथों में ले लिया।[2]

देशी नरेशों के शासन काल में उच्च पदों के लोगों को जो विशेषाधिकार तथा सुविधाएं प्राप्त थी वह कम्पनी के शासन के स्थापित होने से वे उनसे वंचित कर दिए गए। इससे भारत में बड़ा ही असन्तोष फैला, ब्रिटिश राज्य की राजनीतिक एवं प्रशासनिक संस्थाओं में भारतीयों को नहीं रखा जाता था क्योंकि अंग्रेज अधिकारी भारतीयों को लालची बेईमान व रिश्वत खोर मानते थे।[3] इस परिपेक्षय में 1802 में ढाँका के मिस्टर पैटर्सन के विचार प्रासंगिक होंगे, ''वे जड़ से नैतिक विचार

---

1. दीना नाथ वर्मा : आधुनिक भारत, पृ० 191
2. बी० एल० ग्रोवर एवम् यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास, एस चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली, 1981 पृ० 143.
3. डॉ० ताराचन्द :हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेन्टस इन इण्डियाप्रथम खण्ड पृ० 299.

शून्य, अत्यधिक चालाक व नीच है वे निरोधमी फूहड़ रूप से असमयी क्रूर एवं डरपोक है संक्षेप में उनमें किसी प्रकार के गुण नहीं है।''[1]

लार्ड वेलेजली ने सभी भारतीय अधिकारियों के स्थान पर अंग्रेज अधिकारियों की नियुक्ति कर भारत में ब्रिटिश नौकरशाही के लौह ढाँचे की नींव रखी। किसी भी शासन की पहचान एवं उसके गुण दोष का पता उसकी न्याययिक प्रणाली के ढंग से पता चलता है। अंग्रेजों की न्याय व्यवस्था पक्षपात पूर्ण थी तथा भारतीयों के अनुकूल नहीं थी। जहाँ एक ओर अंग्रेज न्यायधीशों की अधिकता थी वहीं दूसरी ओर कुछ भारतीय होते भी थे तो उनको अंग्रेजों के मुकदमें सुनने का अधिकार नहीं था। यदि भारतीय न्यायाधीश किसी अंग्रेज के विपक्ष में फैसला दे भी देते थे तो वह मान्य नहीं होता था। अंग्रेज न्यायाधीश अपनी जाति के साथ पक्षपात करते थे। न्यायिक प्रणाली में निर्णय, दीर्घ प्रक्रिया के बाद एवं अनिश्चित होता था। गरीब व्यक्ति के मुकदमें में धन और समय दोनों ही नष्ट होता था। न्याय तब भी नहीं मिल पाता था। विधि प्रणाली तथा सम्पत्ति के अधिकार पूरी तरह से संशोधित थे।

अंग्रेजों ने वैसे तो अपनी निहित स्वार्थो को ध्यान में रखकर देश को राजनीतिक एकता के सूत्र में बांधकर भारत में नयी समाज व्यवस्था का भौतिक आधार तैयार किया। लेकिन इसके दुरगामी परिणाम भारत के लिए लाभप्रद हुए। नयी व्यवस्था ने भारत का सम्पर्क विश्व बाजार के साथ किया। डाक-तार एवं दूरभाष जैसी संचार व्यवस्था, रेल का चालन, देशको जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसके बाद आधुनिक उद्योग धन्धों तथा वैज्ञानिक योग्यता वाले आवश्यक कर्मियों को प्रशिक्षित किया गया। हाँलाकि ये सारे काम उतने गुणवत्ता पूर्ण नहीं थे। क्योंकि अंग्रेजी राज्य का योगदान ध्वसांत्मक अधिक था।[2]

---

1. एन० एस० बोस : इण्डियन अर्वकनिंग एण्ड बंगाल पृ० 4.
2. आर० पी० दत्त : आज का भारत, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लि० 977 पृ० 316

भारत जिसकी अर्थ व्यवस्था कृषि आधारित थी जिसकी बुनियादी इकाई ग्राम समाज थी जिसको ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग ने लूट खसोट नीति के तहत नष्ट भ्रष्टकर दिया। प्लासी के युद्ध में विजय के परिणाम स्वरूप अंग्रेजों ने भारत के किसी भी राष्ट्रीय उद्योग को पनपने न देने और उसकी वृद्धि को कुण्ठित करने की नीति अपनायी। 1793 का इस्तमदारी बन्दोबस्त कानून और 1818 का रैयतवाड़ी प्रथा कानून ये ऐसे कानून थे जिन्होंन ग्राम समुदाय वाली प्रणाली पर सीधे चोट की। और भारत में बड़े जमींदार वर्गों की रचना की। अब इससे किसान सरकारी जमीन के किराएदार बन गए। चूँकि किराये बहुत ऊँचे थे इसलिए जमीन धीरे-धीरे सूदखोरों और मुनाफाखोरों के हाथों में चली गयी। जिससे वे अब जमींदार खुद ही बन गये। कम्पनी की भूमि सम्बन्धी नीति से गांव के पट्टेदार किसान, कारीगर, दस्तकार आदि सभी तबाह हो गए। सूदखोर और बड़े जमीदारों की मौत आ गई।[1]

इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति को ऊर्जा औपनिवेशिक लूट खसोट से ही प्राप्त हो रही थी। क्योंकि भारत से कच्चा माल, सस्ता श्रम एवं सस्ती तकनीकि प्राप्त होने के कारण कम लागत में अधिक मुनाफा कमाया जाता था। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड के फैक्ट्रियों में बने हुए माल को खपाई के लिए भारत का बाजार था ही। 1795 से पूर्व के बन्दरगाहों की और इंग्लैण्ड के सूती माल का निर्यात कई गुना बढ़ गया था। ब्रिटिश उत्पादन की खपत के लिए भारत ही मुख्य बाजार था कृषि का काम अब विदेशी बाजारों की आवश्यताओं के अनुसार माल तैयार करना था।[2]

1813 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चार्टर परिवर्तन करते समय ब्रिटिश संसद ने कम्पनी का एकाधिकार समाप्त कर, सभी अंग्रेज व्यापारियों को भारत के साथ उन्मुक्त व्यापार करने की अनुमति दे दी। क्योंकि नेपोलियन बोनापार्ट ने ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं को यूरोपीय बन्दरगाह में जाने से रोक

---

1. के दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली पृ० 543 344.
2. आर० सी० दत्त : ब्रिटिश भारत का आर्थिक इतिहास, ज्ञानमण्डल कायालय, 1922, पृ० 108

दिया था। अत: अग्रेज उद्यमियों और व्यवसायियों को अपनी वस्तुओं की खपत के लिए नवीन बाजारों की आवश्यकता थी। इसी के साथ उन्मुक्त व्यापार से आर्थिक लूट की प्रक्रिया तेज हुई।[1]

भारत में ब्रिटेन का उपनिवेशी खूंनी पंजा, दिनोदिन कसता जा रहा था ब्रिटिश शासन की आर्थिक निर्गत की नीति ने भारत की अर्थ व्यवस्था की जर्जर कर दिया था। जिससे देश परावलम्बी होता जा रहा था वह उस पर विदेशी ऋण की वृद्धि होती जा रही थी। विदेशी वस्तुओं का आयात बहुत तेजी से हो रहा था उसकी तुलना में निर्यात बहुत मन्द गति से हो रहा था। इससे असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। एक तरफ तो व्यापारिक तरीके से तथा दूसरी ओर ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा लूट खसोट्, भ्रष्टाचार, इनाम और इकराम के माध्यम से धन संचित करके अपने देश में भेजा जा रहा था। दूसरी तरफ सभी पदों पर अंग्रेज अधिकारी के रूप में विद्यमान थे। सेवा निवृत्ति के पश्चात वे इंग्लैण्ड चले जाते थे तथा साथ ही साथ जीवन की सभी बचत व आय भी ले जाते थे। पेंशन के रूप में भी अत्यधिक धानराशि उन्हें भारत से ही जाती थी। भारत के प्रशासनीय तकनीकी व राजनीतिक अनुभव भी इंग्लैण्ड चले जाते थे। यह भारत का नैतिक निर्गम था।[2] अंग्रेजों ने भारत देश के शोपण का एक और तरीका अपनाया वे इतना अधिक टैक्स वसूल कर लेते थे जितना देश की किसी अन्य सरकार ने कमी जरूरत ने कमी नहीं किया था। परन्तु उसका अधिकांश खर्च अंग्रेज अपने ही ऊपर कर लेते थे। जिससे गरीबी, बेबसी और भूखमरी दिनों दिन बढ़ती जा रही थी, लेकिन इसका एक लाभ यह भी हुआ कि अंग्रेजों के प्रति कटुवाहट बढ़ने लगी। और देश वासी एकता के महत्व को समझने लगे। अंग्रेजों के इस अमानवीय व्यवहार के प्रति खौंफ क्रोध, विद्रोह की भावना बढ़ती चली गयी ऐसे में देश में राष्ट्रीयता की भावना ने जन्म लिया।

---

1. आर० सी० दत्त : वही पृ० 105.
2. दादाभाई नौरोजी : पावर्टी एण्ड ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फार्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग, नई दिल्ली, 1962, पृ० 50.

अंग्रेजों द्वारा ने केवल आर्थिक शोषण हो रहा था अपितु धार्मिक शोषण भी होने लगा। इसके लिए अंग्रजों को पूर्ण रूप से दोषी ठहराना उचित नहीं है क्योंकि इसके लिए समाज भी जिम्मेदार है लेकिन ईसाई मिशनरियों एवं पादरियों के धर्मान्तरण के घृणित खेल से मुख भी नहीं मोड़ा जा सकता जिसका एक मात्र उद्देश्य देश का ईसाई करण करना था। जैसा कि सर्वविदित है इतिहास अपने को दोहराता है। और प्रकृति का चक्र कभी रात कभी दिन, कभी सुख: कभी दुख: ऋतुओं का आना जाना चन्द्र की कलाएं, ज्वार भाटा सभी चक्र अपने क्रम से चलते रहते है। उसी प्रकार भारतीय समाज अपने बुरे दिनों से जो रात्रि के समान थे सुबह की प्रथम किरण भी देखने के लिए अब तैयार हो गया था। इस प्रथम किरण को ऊर्जा एवं प्रकाश देने के लिए बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले पूरब के सूर्य की तरह प्रात: की लालिमा लेकर भारतीय क्षितिज में अवतरित हुए और दु:ख दारिद्रय कष्ट, शोषण, की इस लम्बी रात को सुखद, सुबह में परिवर्तित करने के लिए तत्पर हुए। इस प्रकार तिलक और गोखले ने अपने अपने नेतृत्व के द्वारा पीड़ित भारतीय जनमानस के कष्टों को दूर किया। उन्होंने देश में समी प्रकार के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक, समस्याओं जो अंग्रेजों के द्वारा या पूर्व से चली आ रही थी, के समाधान हेतु अपनी सेवाएं प्रस्तुत की। भारत की धरती के इन महान् सपूतों ने भारत माता को हर तरह की बुराइयों से मुक्त कराने का बीड़ा उठाया तथा यह भी प्रण किया कि भारत देश अपनी पुरानी अस्मिता को और सम्मान को फिर से प्राप्त करेगा।

तिलक और गोखले दोनों ही भारत की महान् विभूतियां थी। दोनों का ही साध्य एक था अर्थात् देश की प्रगति लेकिन साधन अलग-अलग थे। उनमें आपस में किन्हीं बिन्दुओं में समानता थी तो किन्ही बिन्दुओं में मन वैभिन्य। क्योंकि प्रकृति ने सबको एक समान नहीं बनाया है जिसके चलते विचारों में विभिन्नता पाया जाना स्वभाविक है। दोनों के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना तो अत्यधिक कठिन है किन्तु कार्य प्रणाली से, सोचने के तरीके से तथा लक्ष्यों की दृष्टि से इतिहास इन दोनों को तिलक को उग्रवादी तथा गोखले को उदारवादी की संज्ञा देता है। लेकिन यह कार्य करने की प्रणाली है व्यक्तिगत जीवन में दोनों ही बड़े ही सरल एवं उदारवादी थे।

अध्याय—2

तत्कालीन भारत में उदारवाद तथा उग्रवाद की अवधारणा

भारत में उदारवादी तथा उग्रवादी चिंतन ने देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक समस्याओं के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए। उदारवादियों तथा उग्रवादियों दोनों ही का देश की परतन्त्रता को समाप्त करने, तथा भारत में नव जागरण लाने में विश्वास रहा है। उदारवाद उवं उग्रवाद का भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रारम्भिक काल में विशेष एवं पृथक् महत्व रहा है। पाश्चात्य शिक्षा तथा भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना ने जिस राजनीतिक चेतना का संचार भारत में किया, उदारवाद तथा उग्रवाद उसी चेतना का प्रतिफल था। इस नवीन चेतना के संचार ने भारतीयों के एक वर्ग को इस पाश्चात्य प्रभाव से इतना अधिक प्रभावित किया कि वे इसके अलावा, उससे पृथक् और इसके विपरीत कुछ मानने को तैयार ही नहीं थे। दूसरी ओर चिन्तकों का ऐसा समुदाय था जिसका उद्देश्य पाश्चात्य प्रभाव की चकाचौंध को समाप्त करने तथा भारतीय गौरव एवं महानव का संदेश देकर विचारों का भारतीयकरण करने को तत्पर था। उदारवादी एवं उग्रवादी चिन्तन अनेक समस्याओं पर विपरीत दृष्टिकोण रखने के बावजूद समान रूप से स्वाधीनता प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प रहा। अन्त में दोनों ही विचारधाराओं का समन्वय प्रारम्भ हुआ और यही समन्वय भारत की स्वतंत्रता के लिए उत्तरदायी माना गया।

उदारवाद एवं उग्रवाद ये दोनों ही शब्द कालवाची या समयवाची कहे जा सकते हैं। तिलक के अनुसार ''आज के उदारवादी कल के उग्रवादी थे। इसी प्रकार से आज के उग्रवादी कल के उदारवादी हो जायेंगे।''[1] इस प्रकार तिलक के विचार से यह स्पप्ट होता है कि उदारवादी तथा उग्रवादी दोनों ही परिवर्तनशील है।

---

1. डा. पुरषोत्तम नागर, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1980 पृ. 88।

तिलक ने अपना जीवन एक उदारवादी के रूप में प्रारम्भ किया किन्तु कालान्तर में ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध की बढ़ती हुई भावना ने उन्हें उग्रवादी बना दिया।[1]

विचारों की दृष्टि से उदारवाद पाश्चात्य चिन्तन की देन रहा है। उदारवाद राजनीतिक व्यवस्था को व्यक्तिवाद पर अवस्थित करता है। प्रत्येक व्यक्ति की नैतिक उपादेयता को उदारवाद ने उभारा है।[2] यूरोप में पुर्नजागरण के समय से यह विचारधारा विद्यमान रही है। उदारवाद विवेक, वैचारिक स्वतंत्रता, सहिष्णुता, प्राकृतिक अधिकार, समानता तथा प्रगति में विश्वास आदि अवधारणाओं पर आधारित है।

उदारवादी विचारधारा से प्रभावित होकर दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, श्री निवास शास्त्री आदि ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया इन्हें भारतीय मितवादी अथवा उदारवादियों की संज्ञा दी गयी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में ''इंग्लैण्ड हमारा राजनीतिक पथ प्रदर्शक है। हम इंग्लैण्ड से सम्बन्ध विच्छेद करना नहीं वरन् एकीकृत होनाचाहते हैं, स्थायी रूप से उस महान साम्राज्य के एक आन्तरिक अंग बनना चाहते हैं जिसने शेष विश्व को स्वतंत्र संस्थाओं के आदर्श रूप प्रदान किये हैं।''[3] भारत में उदारवादियों ने अनेक सामाजिक संस्थाओं एवं रीति-रिवाजों में सामाजिक समानता तथा व्यक्तिगत संस्थाओं की स्थापना और नागरिक स्वतंत्रता की मांग प्रस्तुत करते थे। राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए उदारवादियों ने संवैधानिक आन्दोलन का समर्थन किया। उनके द्वारा जिस राजनीतिक आन्दोलन का प्रारम्भ किया गया, वह भारत की एकता, जातीय एवं साम्प्रदायिक समन्वय आधुनिकीकरण, सामाजिक रूढ़िवादिता एवं भेदभाव का विरोध, नवीन आर्थिक प्रगति तथा औद्योगिकीकरण का समर्थन करता था।

---

1. डा. पुरुषोत्तम नागर, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1980 पृ. 88।
2. डा. पुरुषोत्तम नागर, वही, पृ. 89।
3. A R. Desais, Social Background of Indian Nationalism] PP. 296-297.

उदारवादियों ने सेवाओं के भारतीयकरण, पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार, व्यवस्थापिका सभाओं के चुने हुए सदस्यों की संख्या में वृद्धि, विधि का शासन, स्वतंत्रता के अधिकार का व्यापक प्रयोग आदि पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया।[1]

1857 के विद्रोह की असफलता ने संगठन और नियोजन सम्बन्धी भूलों को रेखांकित करते हुए राष्ट्रीय राजनीतिक मंच के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में की गयी। जिसके मूलभूत लक्ष्यों में राष्ट्रवादी भावना का प्रचार-प्रसार करने तथा ब्रिटिश शासन से बेहतर शासन सुधारों को क्रियान्वित करने के लिए लोकतांत्रिक दबाव बनाने को शामिल किया। कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओं ने, राजाराममोहन राय द्वारा स्थापित उदारवादी परम्परा को आगे बढ़ाया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक नेता उदारवादी परम्परा से प्रभावित हुए और उन्होंने भारतीय जनता में उदारवादी परम्पराओं के अनुकूल नागरिक अधिकारों एवं प्रतिनिधि संस्थाओं की मांग करते हुए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नए अध्याय का सूत्रपात किया। सभी उदारवादी नेता अपनी राजनीति की व्यवस्था 'उदारवाद और संयम' (Liberalism and Moderation) के समन्वय से करते थे। इनके ढंगों के विषय में **महादेव गोविन्द रानाडे ने लिखा था,** "संयम का अर्थ यह है कि उपवस्तु की अथवा उन आशा की झूठी आस्था ही मत करो जो मिलनी असम्भव हैं, अपितु समीपतम वस्तु की ओर समझौते और न्याय संगत भावना से प्रेरित होकर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ते जाओ।"[2]

इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस का संचालन करने वाले उदारवादी उच्चकोटि के देश भक्त थे, लेकिन वे अपनी देश भक्ति के बावजूद ब्रिटिश शासन के बड़े प्रशंसक थे। ब्रिटिश राज्य के उपकारों के प्रति उनके हृदय में कृतज्ञता का भाव था और वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति राजभक्ति

---

1. पुरुषोत्तम नागर, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन पृ. ४४।
2. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि० रामनगर, नई दिल्ली, 2002, पृ० 300

भी रखते थे। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी अपने सहयोगियों की सामान्य भावना को ही व्यक्त कर रहे थे, जबकि उन्होंने यह घोषणा की थी कि "आओ, हम पुरुषों की तरह बोले और घोषणा कर दे कि हम आचूड़ राजभक्त है।"[1] इन नेताओं के सम्बन्ध में **एनी बेसेण्ट** ने कहा था कि "इस काल के नेता अपने को ब्रिटिश साम्राज्य की प्रजा मानने में गौरव का अनुभव करते थे।"[2]

उदारवादियों को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अटूट विश्वास था और वास्तव में इस विश्वास ने ही उनमें राजभक्ति की भावना को जन्म दिया था। **डॉ० पट्टाभि के अनुसार** "उदारवादी नेता इस बात पर विश्वास करते थे कि अंग्रेज स्वभाव से न्यायप्रिय होते है तथा यदि उन्हें भारतीय दृष्टिकोण का सही ज्ञान करा दिया गया तो वे इसे स्वीकार कर लेगें।"[3] 12वे अधिवेशन के सभापति पद से **रहीमतुल्ला सयानी** ने घोषित किया था कि, "अंग्रेजों से बढ़कर सच्चरित्र तथा सच्ची जाति इस सूर्य के प्रकाश के नीचे नहीं बसती।"[4] अन्य उदारवादी नेताओं की भी यही भावना थी।

ये उदारवादी दल अंग्रेजी साम्राज्य के बने रहने, अपितु उसको सुदृढ़ करने के पक्ष मं थे। उन्हें डर था कि अंग्रेजों के जाने पर अव्यवस्था फैल जाएगी। अंग्रेजी राज्य शांति और व्यवस्था का घोतक था और भारत में बहुत लम्बे समय तक इसका बना रहना परमावश्यक है। इसी भावना को व्यक्त करते हुए गोखले ने कहा था, "अंग्रेज नौकरशाही कितनी ही बुरी क्यों न हो----परन्तु आज केवल अंग्रेज ही व्यवस्था बनाए रखने में सफल हैं और व्यवस्था के बिना कोई उन्नति सम्भव ही

---

1. ताराचन्द : भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, सूचना एवं प्रमारण मंत्रालय, नई दिल्ली 1972-पृ० 481
2. ताराचन्द, वही पृ० 481
3. पट्टाभि सीतारमैय्या-कांग्रेस का इतिहास, सस्ता सहित्य मण्डल दिल्ली 1935 पृ० 63.
4. A more honest or Sturdy nation does not exit under the sun tham this English nation'- Quoted from Annie Beasant; How Indie wrought for Freedom. P. 232.

नहीं है।''[1] इस उदारवादी दल के लोग वास्तव में विश्वास करते थे कि उन्नति केवल अंग्रेजी देखरेख में ही सम्भव है इसीलिए ये लोग क्राउन के प्रति राजभक्त थे। एक बार कांग्रेस अध्यक्ष **बदुरूद्दीन तैय्यबजी ने कहा,** ''महारानी की करोड़ो प्रजा में से कोई अन्य लोग इतने राजभक्त नहीं जितने भारतीय शिक्षित लोग।''[2] अत: ये लोग अंग्रेजी साम्राज्य को शक्तिहीन बनाने को उद्यत नहीं थे, क्राउन के प्रति राजभक्ति उनका राजनीतिक धर्म था।

अधिकांश प्रारम्भिक राष्ट्रीय नेता पश्चिमी शिक्षा के परिणाम थे और उनका विचार था कि ब्रिटिश शासन ने अंग्रेजी साहित्य, शिक्षा पद्धति, यातायात और संचार की व्यवस्था, न्याय व्यवस्था और स्थानीय स्वायत्त शासन के रूप में, हमें एक प्रगतिशील सभ्यता प्रदान की है और ब्रिटिश शासन ही आन्तरिक अशांति और बाहरी आक्रमण से भारत की रक्षा करने में समर्थ है। **फिरोजशाह मेहता ने कांग्रेस के छठे अधिवेशन के सभापति पद से कहा था,** ''इंग्लैण्ड और भारत का सम्बन्ध इन दोनों देशों और समस्त विश्व की आने वाली पीढ़ियों के लिए वरदान होगा।''[3]

ह्यूम ने कांग्रेस, लार्ड डफरिन से परामर्श करके ही आरम्भ की थी। कांग्रेस के नेता अंग्रेजी इतिहास और संस्कृति से बहुत प्रभावित थे और अंग्रेजी सम्पर्क को 'ईश्वर की अनन्य कृपा' मानते थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि अंग्रेजी शासन भारत के हित में है, एतएव वे लोग अंग्रेजी सरकार को शत्रु नहीं अपना मित्र समझते थे। वे आशा करते थे कि कालान्तर में अंग्रेज उन्हें अपनी परम्पराओं के अनुसार स्वशासन करने के योग्य बना देंगे। 1886 में **दादा भाई नौरोजी ने** कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भापण देते हुए अंग्रेजी राज्य के लाभों का सविस्तार वर्णन किया और प्रतिनिधियों ने जोर-जोर से

---

1. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास, एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि० रामनगर नई दिल्ली, 2002 पृ० 300
2. बी० एल० ग्रोवर, वही, पृ० 301.
3. विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, वरुण दे : स्वतंत्रता संग्राम, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया नयी दिल्ली, 1972, पृ० 27.

तालियां बजाकर उसका अनुमोदन किया। ह्यूम साहिब के कहने पर सम्मेलन ने महारानी विक्टोरिया के लिए तीन बार जयध्वनि की, और उनकी दीर्घायु के लिए प्रार्थना की।[1] **आनन्द बोस** ने कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में यह घोषणा की, कि "शिक्षित वर्ग इंग्लैण्ड का शत्रु नहीं अपितु उसके सम्मुख बड़े कार्य में उसका प्राकृतिक और आवश्यक सहयोगी है।"[2] अत: यह समझा जाता था कि भारत की उन्नति में बाधा अंग्रेजी उपनिवेशवादी नीति नहीं अपितु भारतीयों का सामाजिक और आर्थिक पिछड़ापन था अथवा प्रतिक्रियावादी ऐंग्लो-इण्डियन नौकरशाही ही था।

उदारवादी राजनीतिक क्षेत्र में क्रमबद्ध विकास की धारणा में विश्वास करते थे, और इस तथ्य से परिचित थे कि एकदम ही प्रतिनिध्यात्मक शासन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तात्कालिक रूप में वे प्रशासन में आवश्यक सुधारों, विधायी परिषदो, सेवाओं, स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं और रक्षा सेवाओं में सुधार से ही सन्तुष्ट थे और वे क्रान्तिकारी परिवर्तन के विरुद्ध थे।[3] उदारवादी नेता यद्यपि क्रमिक सुधार में विश्वास करते थे लेकिन इन वैधानिक सुधारों का अन्तिम लक्ष्य भारतीयों के लिए स्वाशासन की प्राप्ति थी। वे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशोसन की स्थापना चाहते थे। **श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने** कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में ही स्वासासन की बात कही थी, और 1906 के कांग्रेस अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस द्वारा स्वाशासन के इस लक्ष्य को स्पष्ट रूप से अपनाया गया।[4] कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन से ही नरम शब्दावलियों का प्रयोग प्रस्तावों में किया गया। अध्यक्षीय भाषण में नम्रता से कहा गया कि "अधिकारी वर्ग के प्रति राजभक्ति

---

1. ताराचन्द्र; भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, सूचना प्रसारण मंत्रालय नई दिल्ली 1972 पृ० 485
2. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास. एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि० रामनगर, नई दिल्ली 2002 पृ० 300.
3. सुभाष कश्यप, भारत का संवैधानिक विकास एवं स्वाधीनता संघर्ष. पृ० 54.
4. सुभाष कश्यप, वही, पृ० 54.

का इजहार करती हुई कांग्रेस केवल इतनी मांग करती है कि सरकार के आधार को विस्तृत किया जाय और जनता को सरकार में उसका उचित हिस्सा दिया जाय।[1]

उदारवादी राष्ट्रवादी ब्रिटिश लोकतंत्र, पाश्चात्य समाज की दृष्टि से पाश्चात्य विचारकों से लॉक, रूसो, मिल इत्यादि से प्रभावित थे और वे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही संवैधानिक सुधारों की माँग करने पर विश्वास करते थे।[2]

उदारवादी नेताओं में शीर्षस्थ, गोपाल कृष्ण गोखले ने अपने गुरु **महादेव गोविन्द रानाडे** के उस राष्ट्रीयकरण का उल्लेख किया जिसे उन्होंने नरमपंथी विचारधारा के सन्दर्भ में दिया था। रानाडे ने कहा था "उदारवाद एवं मितवादी हमारे संघ के सिद्धान्त होगें। उदारवाद की भावना में जाति और धर्म के मतमतान्तरों से मुक्ति, मनुष्य एवं मनुष्य के बीच न्याय की कामना करने वाले सभी लोगों के प्रति श्रद्धा, शासकों के प्रति वैधानिक रूप में उचित स्वामिभक्ति, पर साथ ही कानूनी हक के रूप में लोगों के लिए समानता के अधिकार की मांग सन्निहत है। मितवाद में यह विचार सन्निहत है कि उन आदर्शों अथवा लक्ष्यों के लिए व्यर्थ में पागल न हुआ जाए जिन्हें प्राप्त करना असम्भव है अथवा जो पहुँच से बाहर दूर है, बल्कि प्रतिदिन उन आदर्शों एवं अधिकारों की प्राप्ति के लिए स्वाभाविक विकास के रूप में कदम उठाये जाते रहें जो निकटवर्ती हो और उन्हें आपसी समझदारी तथा सद्भावना से प्राप्त किया जा सकता है।[3]

रानाडे के इस स्पष्टीकरण से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उन नेताओं के विचारों, सत्ता के साथ उनके सम्बन्धों तथा उनकी कार्य प्रणाली की स्पष्ट झलक प्राप्त होती है, जिन्होंने राजाराममोहन राय,

---

1. सुभाष कश्यप, भारत का संवैधानिक विकास एवं स्वाधीनता संघर्ष, पृ० 56 57

2 ताराचन्द : भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1972 - पृ० 482

3. डी० वी० माथुर गोखले ए पोलिटिकल बायोग्राफी, मानकालॉज, बम्बई 1966 37

एवं उनके अनुयायियों द्वारा भारतीय संदर्भ में जिसने आरम्भ किए गए उदारवादी परम्परा को विकसित किया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जिसे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व किया, ब्रिटिश भारत का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक संगठन था। 1885, जबकि इसका जन्म हुआ, से लेकर 1905 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर उन्हीं नेताओं का प्रभुत्व रहा जिन्हें कि उदारवादी मिद्यवादी कहा गया। इसलिए 1885 से 1905 तक की अवधि को भारतीय उदारवाद का युग कहा गया। सन् 1885 एवं 1905 के मध्य का समय भारतीय राष्ट्रवादिता के बीजारोपण का समय था, और उस दौर के राष्ट्रवादीयों ने उस बीज को अच्छी तरह और गहराई में बोया।----- परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक ऐसा समान राजनीतिक एवं आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसमें भारत के विभिन्न वर्गों के लोगों को विभाजित करने की जगह एकताबद्ध कर दिया। बाद में भारतीय जनता उस कार्यक्रम से सम्बद्ध हुयी और उसने एक सशक्त संघर्ष प्रारम्भ किया।[1]

1905 के पश्चात उदारवादी नेताओं के प्रभुत्व तथा नेतृत्व को उग्र पंथियों द्वारा चुनौती मिली और 1907 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस स्पष्ट रूप से दो सम्प्रदायों में विभाजित हो गयी। उदारवादी एवं उग्रवादी सम्प्रदाय।[2] 1915 तक कांग्रेस के ये दोनों सम्प्रदाय अलग-अलग कार्य करते रहे। 1916 में एनीबेसेण्ट के प्रयत्नों से दोनों सम्प्रदायों में मेल हुआ, किन्तु यह विलय दीर्घकालीन न रह सका।[3]

उग्रवादियों के अलावा इस समय तक नरम पंथियों को एक अन्य क्षेत्र से भी चुनौती मिलनी प्रारम्भ हो गयी थी। यह शक्ति थी महात्मा गाँधी का भारत के राजनीतिक पटल पर अभ्युदय, जो एक

---

1. विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, वरुण दे : भारतीय स्वतंत्रता संग्राम पृ० नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नयी दिल्ली, 1972 पृ० 79-80.
2. ताराचन्द : भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास सूचना प्रसारण मंत्रालय नई दिल्ली, 1972-पृ० 486.
3. ताराचन्द्र, वही, पृ० 486.

अखिल भारतीय नेता के रूप में सामने आये और उन्होंने तथा उनके समर्थकों ने शीघ्र ही लगभग अन्य सभी राजनीतिक नेताओं के प्रभाव को पीछे छोड़ दिया, फलत: नरमपंथियों के प्रभाव में तेजी से ह्रास होने लगा।[1] अत: उन्होंने कांग्रेस से अपना नाता तोड़ लिया और 1918 में भारतीय उदारवादी संघ (इण्डियन लिबरल फेडरेशन) की स्थापना की और इस संघ के माध्यम से अपने उदारवादी, मितवादी, सिद्धान्तों पर अमल करते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी भूमिका निभाते रहे। 1918 के बाद कांग्रेस में गांधी जी के नेतृत्व के सामने इन नेताओं को मात खानी पड़ी, और एक बड़ी राजनीतिक शक्ति के रूप में उदारवादी अथवा नरमपंथी, अपने प्रभाव को खो बैठे।[2]

उदारवादियों की सफलताए् और भारतीय राजनीतिक में इनका स्थान—बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षो में उग्रवादियों ने इस काल की उपलब्धियों की निन्दा की। इसको राजनीतिक भिक्षावृत्ति (Political Mendicancy) का नाम दिया। लाला लाजपत राय ने इसे अवसरवादी आन्दोलन कहा।[3] उग्रवादियों के अनुसार उदार राष्ट्रवादियों द्वारा अपनाई गयी वैधानिक पद्धति प्रभावदायक नहीं थी। सन् 1918 तक उनकी अनेक प्रार्थनाओं और याचनाओं के बावजूद भी अंग्रेजी शासन ने उनकी नितान्त उचित एवं वैध मांगों के प्रति कोई रूचि नहीं दिखायी थी। उन्होंने जिन साधनों का प्रयोग किया, वे अत्यन्त साधारण कोटि के थे तथा ब्रिटिश शासन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इन सबके अतिरिक्त उदार राष्ट्रवादिता की धारा का नेतृत्व करने वाले व्यक्ति जन नेता नहीं थे। इनका साधारण जनता से कोई सम्पर्क नहीं था। **गुरुमुख निहालसिंह** लिखते है, "सम्भवत: गोखले को छोड़कर कांग्रेस के नरम नेताओं में स्वतंत्रता के लिए व्यक्तिगत बलिदान करने और आपत्तियाँ सहने को कोई तैयार नहीं था।"[4]

---

1. विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, वरुण दे : भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डियन 1972-पृ० 81-82.
2. आर० सी० मजूमदार : भारती में स्वाधीनता आन्दोलन का इतिहास, 1971 पृ० 327
3. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास, एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि० रामनगर, नई दिल्ली 2002 पृ० 301.
4. इन्द्र विद्या वाचस्पति भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास, पृ० 18

वर्तमान समय में उदार राष्ट्रवादियों के कार्यों की चाहे कैसी ही आलोचना क्यो न की जाय, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उन परिस्थितियों में उदार राष्ट्रवादियों द्वारा अपनाया गया मार्ग नितान्त औचित्यपूर्ण और व्यवहारिक था। भारतीय जनता में अपनी जड़े गहरी जमा लेने के पहले ही यदि उनके द्वारा ब्रिटिश राज के अन्त या भारतीय स्वतन्त्रता की बात कहना प्रारम्भ कर दी जाती, तो यह बचकाना बात तो होती ही, सम्भवतया इससे इस संस्था के अस्तित्व पर ही कुठारा घात हो जाता। उनके द्वारा अपनाया गया मार्ग नितान्त स्वाभाविक और विवेकपूर्ण था और उदारवादी समय की गति के अनुसार आगे बढ़ने में पीछे नहीं रहे। उदारवादियों द्वारा किये गये कार्यों के महत्व को निम्न रूपों में देखते है।[1]

ब्रिटिश शासन के दोष स्पष्ट करना— कांग्रेस के द्वारा अपनी स्थापना के समय से ही उदारवादियों ने ब्रिटिश शासन की बुराईया बताने और उसे जनहितकारी रूप प्रदान करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये गए। नौकरशाही की बुराइयां बताने के क्रम में उन्होंने विदेशी शासन के दोष स्पष्ट कर दिए और उग्रवादी तत्व को विदेशी शासन के विरुद्ध लड़ने के लिए शक्तिशाली शस्त्र प्रदान किया। इस प्रकार शुरू के दिनों में भी कांग्रेस ''सरकार का एक प्रतिपक्ष बन गयी; किन्तु वह कोई मित्रतापूर्ण परामर्शदाता प्रतिपक्ष न बनी अपितु वह एक ऐसा प्ररिपक्ष बनी, जिसने सरकार की हैसियत और अधिकार को चुनौती दी।[2]

भारतीय राष्ट्रीयता के जनक— उदारवादियों के कार्य तात्कालिक रूप में अधिक महत्वपूर्ण न होते हुए भी ऐसे थे, जिनके सुदूरव्यापी और अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम हुए। भारत में राष्ट्रीयता के जनक ये उदार राष्ट्रवादी ही थे। उन्होंने देशवासियों को शिक्षा दी कि वे साम्प्रदायिक और प्रान्तीय

---

1. R. C. Majumdar _ History of Freedom movement in India. Cal. Firma K. L. Mukhopadhyay. 1971. P-352
2. M C. Donald. Government of India.

धरातलों से उठकर सामान्य राष्ट्रीयता की भावना को अपने हृदय में विकसित करे। **श्री गुरुमुख निहालसिंह के शब्दों में** "प्रारम्भिक कांग्रेस के राजभक्ति की प्रतिज्ञाओं, नरम नीति, आवेदन ही नहीं अपितु भित्रावृत्ति के बावजूद भी उन दिनों राष्ट्रीय जागरण, राजनीतिक शिक्षा, भारतीयों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने तथा उनमें सामान्य राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण करने में कठिन परिश्रम किया था।"[1]

भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा— उदारवादियों ने भारतीय जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान की और उसमें प्रजातन्त्र तथा स्वतंत्रता के आदर्शों को प्रसारित किया। समाचार पत्रों के जरिये उन्होंने निरंतर सरकार के गुण दोष का विवेचन किया। उन्होंने उच्च सरकारी अफसरों और ब्रितानी संसद को अनेकों याचिकाये और स्मरण पत्र भेजे। प्रत्यक्ष रूप में वे याचिकाएं सरकार को संबोधित होती थीं लेकिन उनका वास्तविक उद्देश्य भारतीय जनता को शिक्षित करना होता था। उदाहरण स्वरूप 1891 में पूना सार्वजनिक सभा द्वारा सावधानीपूर्वक तैयार किये हुये स्मरण पत्र का सरकार की ओर से दो पंक्तियों में उत्तर आया और उस पर गोखले ने निराशा प्रकट की तो **न्यायाधीश रानाडे** ने उत्तर देते हुये कहा :

"आप यह महसूस नहीं करते कि हमारे देश के इतिहास में हमारा क्या स्थान है। ये स्मरण पत्र सरकार को नाममात्र के लिए संबोधित किये जाते हैं। वास्तव में वे संबोधित होते है जनता को, ताकि वह जान सके कि इन मामलों में कैसे सोचा जाता है। क्योंकि इस तरह राजनीति यहाँ के लिए एकदम नयी है, अत: किसी और परिणाम की आशा किए बगैर इस काम को आने वाले अनेकों वर्षों तक करते रहना आवश्यक है।"[2]

1 जी० एन० : सिंह भारत का वैधानिक तथा राष्ट्रीय विकास पृ० 121

2. विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, बरुण दे: स्वतंत्रता संग्राम, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नयी दिल्ली 1972 पृ० 67.

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का आधार तैयार करना—यद्यपि उदारवादियों के द्वारा स्वयं गम्भीरतापूर्वक स्वतंत्रता की माँग या इस हेतु कोई आन्दोलन नहीं किया गया, लेकिन एक पृष्ठभूमि तैयार की, जिसके आधार पर ही भविष्य में स्वतंत्रता हेतु विभिन्न आन्दोलन किये जा सके। **श्री के० एम० मुन्शी लिखते है कि** ''यदि पिछले 30 वर्षों में कांग्रेस के रूप में एक अखिल भारतीय संस्था देश के राजनीतिक क्षेत्र में कार्यरत न होती तो ऐसी अवस्था में गांधी जी का कोई महान आन्दोलन सफल न होता।''

पट्टाभि सीतारमैय्या के अनुसार-''जिस समय भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उन्होने पदार्पण किया, उस समय वे अकेले थे। उन्होंने जो नीतियां अपनायी, उनके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। किसी भी आधुनिक इमारत की नींव में 6 फुट नीचे जो ईट, चूना और पत्थर गढ़े है, क्या उन पर कोई दोष लगाया जाता है? क्योंकि वही तो आधार है जिसके ऊपर सारी इमारत खड़ी हो सकी है। सर्वप्रथम औपनिवेशिक शासन, फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होम रूल, उसके बाद स्वराज्य तथा सबके शीर्ष पर स्वाधीनता की मंजिले एक के बाद एक ही बन सकी है।''[1]

उदारवादी राष्ट्रीयता की तात्कालिक सफलता 1892 का भारतीय परिपद अधिनियम द्वारा यद्यपि यह भारतीयों को सन्तुष्ट न कर सका लेकिन फिर भी देश के वैधानिक विवाद की दिशा में यह एक निश्चित प्रगतिशील चरण था।[2] अपनी सफलताओं के होते हुए भी आरम्भिक राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव बहुत दृढ़ रखी ताकि उस पर यह आन्दोलन अग्रसर हो सके और इसलिए ये लोग आधुनिक भारत के निर्माताओं में उत्तम स्थान के अधिकारी है। **गोपाल कृष्ण गोखले**—''हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम देश की उन्नति के उस चरण पर हैं जहाँ हमारी उपलब्धियाँ थोड़ी ही

1. पट्टाभि सीतारमैय्या : हिस्ट्री ऑफ द इण्डियन नेशनल कांग्रेस, वॉल्यूम I. (1885 1935), पद्मा पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई, 1935
2. ताराचन्द : भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली 1972, पृ० 488.

होंगी और हमारी निराशाएं अधिक और कठोर। विधि का ऐसा ही विधान है कि हमें इस संघर्ष में यही भूमिका मिली है और जब हमने अपना कार्य सम्पन्न कर दिया है तो हमरा उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है। नि:सन्देह हमारी देशवासियों की आने वाली पीढ़ियाँ अपनी सफलताओं से भारत की सेवा करेगी। हम आज की पीढ़ी अपनी असफलताओं से ही इसकी सेवा कर संतोष प्राप्त करें। यद्यपि यह बहुत कठिन है, इन सफलताओं से ही वह शक्ति आएगी जो अन्त में बड़े कार्य करने में सफल होगी।''[1]

विपिन चन्द्र—''1885 से 1905 तक का काल भारतीय राष्ट्रवाद में बीज बोने का समय था और आरम्भिक काल के राष्ट्रवादियों ने ये बीज, गहरे और अच्छे ढंग से बोए।''[2]

भारत में उग्रवाद

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जिन उदार राष्ट्रवादियों के प्रभाव में थी, उनका लक्ष्य भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में क्रमिक सुधार करना था, और जो इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु संवैधानिक साधनों के प्रयोग में विश्वास रखते थे, लेकिन 1885 ई० से 1905 ई० के बीच के काल में भारत और विदेशों में कुछ ऐसी घटनाएं घटित हुयी और कुछ ऐसी शक्तियों क्रियाशील हुयी जिन्होंने भारतीय राष्ट्र के अपेक्षाकृत युवा वर्ग को पूर्ण स्वतंत्रता की माँग के लिए प्रेरित किया, और संवैधानिक साधनों के प्रति अविश्वास की भावना को जन्म दिया। पूर्व स्वतंत्रता की माँग और उसकी प्राप्ति हेतु जन आन्दोलन के मार्ग को अपनाने वाली इस धारा को ही 'उग्र राष्ट्रीयता' के नाम से जाना जाता है।

---

1. लाजपत राय, यंग इण्डिया, पृ० 156.
2. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास, एस० चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, रामनगर, नई दिल्ली, 2002, पृ० 302.

उदारवादी राष्ट्रवादियों से भिन्न दूसरे प्रकार के राष्ट्रवादी जिन्हें गरमपंथी अथवा अतिवादी कहा गया, अपने विचारों की प्रेरणा भारतीय परम्परा, वैद्धिक साहित्य, तथा ऐतिहासिक महापुरूषों से ग्रहण कर रहे थे। पुन: इनका लक्ष्य राष्ट्रवादी एकता सुदृढ़ करते हुए ब्रिटिश शासन से मुक्ति का था, और इसके लिए वे किसी भी प्रकार की कार्य प्रक्रिया को, जहाँ तक कि हिंसा को भी समान रूप से मान्यता देने में हिचकिचाहट नहीं करते थे।

1892 के पश्चात् जबकि नरमपंथियों के सुधार प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया गया तो गरमपंथियों को अपने विचारों को व्यापक रूप में क्रियान्वित करने का अवसर उपलब्ध हो गया। इस प्रकार 1905 तक दोनों ही दृष्टिकोण के राष्ट्रवादियों द्वारा आन्दोलन को संचालित करने का अवसर मिला तथा प्रत्यक्ष रूप से विरोधी होते हुए भी परोक्षत: राष्ट्रवादी आन्दोलन के विकास में दोनों ने ही सम्पूरक भूमिका निभाई क्योंकि नरमपंथियों द्वारा यदि एक ओर आन्दोलन को आरंभिक रूप से ब्रिटिश दमन से बचाया (क्योंकि उनका दृष्टिकोण विधिक और संविधानिक था) तो गरमपंथियों से भारतीयों के क्षीण मनोबल तथा संकल्प को पुन: प्राप्त करने में सहायता दी। यही कारण है कि इस आरंभिक चरण में रखी गयी सुदृढ़ नीति के सहारे ही राष्ट्रवादी स्वाधीनतावादी आन्दोलन का विकास सम्भव हुआ।[1]

उदारवादियों, तथा उग्रवादियों दोनों में लक्ष्य, विचार स्रोत तथा कार्यपद्धति को लेकर अन्तर था लेकिन दोनों ही समान रूप से राष्ट्रवादी तथा स्वाधीनतावादी थे।

उग्रराष्ट्रीयता के उदय के कारण—उग्रराष्ट्रीयता का उदय न तो आकस्मिक था और न ही अन्य परिस्थितियों से अलग एक पृथक् परिवर्तन, वरन् यह तो विभिन्न घटनाओं, परिस्थितियों और शक्तियों

---

1 आर० सी० अग्रवाल : भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, एस० चन्द कम्पनी लि० रामनगर नई दिल्ली, 1992 पृ 263

का स्वाभाविक परिणाम था।[1] उग्र राष्ट्रीयता के उदय के कारणों की व्याख्या हम निम्न संदर्भ में कर सकते हैं।

संवैधानिक सुधार की दिशा में राष्ट्रीय कांग्रेस के 7 वर्षो के प्रयत्नों का परिणाम 1882 का भारतीय परिषद अधिनियम था लेकिन यह अधिनियम स्वयं में निहित कमियों और त्रुटियों के कारण राष्ट्रीय कांग्रेस या सामान्य भारतीयों को सन्तुष्ट न कर सका। इस अधिनियम में औपनिवेशिक तथा प्रान्तीय विधान परिषदों को अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 6 से 10 और फिर 10 से 16 कर दी गई। इनमें से कुछ का निर्वाचन नगरपालिकाओं, जिला बोर्डो आदि के जरिए अप्रत्यक्षत: किया जा सकता था, लेकिन सरकारी बहुमत बरकरार रहा। सदस्यों को वार्षिक बजट पर बहस करने का अधिकार भी दे दिया गया, लेकिन उस पर मतदान करने या उस बारे में कोई संशोधन दाखिल करने के अधिकार से उन्हें वंचित रखा गया। वे सवाल तो पूछ सकते थे, लेकिन उनका जबाव आने पर पूरक सवाल नहीं कर सकते थे और जवाबों पर बहस भी नहीं कर सकते थे। बहरहाल, इस संशोधित औपनिवेशिक विधान परिषद की बैठक भी 1909 तक साल में औसत 13 दिन की दर से ही हुई और गैर-सरकारी भारतीय सदस्यों की संख्या थी, 24 में सिर्फ 5।[2] अधिनियम की उपर्युक्त त्रुटियों के कारण संवैधानिक पद्धति के आधार पर कुछ प्राप्त कर सकने की आशा समाप्त हो गयी और अब कांग्रेस के अन्दर तथा बाहर एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो क्रमिक परिवर्तन के स्थान पर आधारभूत परिवर्तन और प्रार्थना के मार्ग के स्थान पर आन्दोलन के मार्ग को अपनाने पर जोर देने लगा।

उग्रवादी राष्ट्रवादी 1892 के अधिनियम से पूर्णत: असन्तुष्ट थे। इसे वे अपनी माँगों के साथ मजाक मानते थे। परिषदे नपुंसक थीं और सरकार की सत्ता पूर्णत: निरंकुश। अब उनकी माँग यह थी कि

---

1. आर० सी० अग्रवाल, वही, पृ० 264.
2. विपिन चन्द्र : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्याल, 1990 पृ०-77.

विधान परिषदों में गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो और उन्हें बजट पर मतदान करने तथा इस तरह सार्वजनिक कोष पर नियंत्रण रखने का अधिकार है। उनका नारा था:''अप्रतिनिधित्व के बिना कर नहीं।''[1] असल में, उन्होंने अपनी माँगों को धीरे-धीरे एक शक्ल दी। बहुत से नेताओं ने जैसे 1904 में दादाभाई नौरोजी 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले और 1906 में लोकमान्य तिलक ने कनाडा और आस्ट्रेलिया के स्वशासित उपनिवेशों की तर्ज पर भारत में स्वशासन की माँग रखनी शुरू कर दी।

1893 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के सभापति पद से बोलते हुए **दादा भाई नौरजी ने ये विचार व्यक्त किए** ''1892 के अधिनियम के अनुसार किसी सदस्य को कोई प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार नहीं होगा ना ही वित्तीय विचार विनिमय में सदन का मत विभाजन मांगने का और न ही इस अधिनियम के अधीन बनाए नियमों अथवा इसके अधिकार द्वारा दिये प्रश्नों के उत्तर में ऐसा करने का अधिकार होगा। इस अधिनियम के अधीन दिये गए अधिकार इतने व्यर्थ हैं। इस ऐक्ट के अधीन बनाए गए नियमों को समाप्त करने अथवा उनमें परिवर्तन करने का अधिकार उस सभा को नहीं होगा जो कानून तता नियम बनाने के लिए बुलाई जाएगी। इस प्रकार हम लोग सभी अभिप्राय तथा उद्देशयों के लिए एक मनमानी सरकार के अधीन होंगे।''[2]

चुनाव के नियम बहुत ही असंतोषजनक थे। **गोखले के शब्दों में** ''अधिनियम की वास्तविक कार्यशीलता से उसके खोखलेपन का ठीक-ठीक ज्ञान हुआ। बम्बई प्रेसिडेन्सी को 8 स्थान मिले। भारत सरकार ने नियमों के अनुसार उनमें से 2 तो बम्बई विश्वविद्यालय तथा, नगर निगम को दे दिये। बम्बई सरकार ने 2 स्थान यूरोपीय व्यापार समुदाय को दे दिये, और एक स्थान दक्कन के सरकारों को दे दिया, एक सिन्ध के जमींदारों को, और केवल दो स्थान साधारण जनता को मिले।''[3]

---

1 विपिन चन्द्र : वही, पृ० 77.

2. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल आधुनिक भारत का इतिहास एस० चन्द कम्पनी लि० रामनगर, नई दिल्ली, 2002 पृ० 383

3. दुर्गादास : कर्जन से नेहरू तक, रूपा पेपरबैक 1969 पृ० 468

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते है कि 1892 का अधिनियम कांग्रेस की मागों से बहुत ही कम था।

कांग्रेस के प्रारम्भिक नेता पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित थे और अपनी मानसिक पृष्ठभूमि के कारण ब्रिटिश शासन को भारत के हित में मानते थे, लेकिन कालान्तर में धार्मिक पुनरूत्थान के परिणाम-स्वरूप कांग्रेस में ही एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ, जो भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के गौरव से परिचित था और जिसका विश्वास विदेशी शासन की समाप्ति में था।

स्वामी वेवेकानन्द ने 1893 में शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म की विजय दुन्दुभी बजायी थी और अरविन्द घोष तथा तिलक आदि उग्रवादी नेता धार्मिक पुनस्थान के ही परिणाम है। **अरविन्द घोष** ने कहा था कि ''स्वाधीनता हमारा लक्ष्य है और हिन्दुत्व ही हमारी यह आकांक्षा पूर्ण कर सकता है।''[1] धार्मिक पुनरूत्थान से प्रभावित होने के कारण ही तिलक ने भारत की स्वाधीनता के लिए हिन्दू उत्सवों और हिन्दू संगठन पर बल दिया था। ये उग्रवादी नेता भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति को अपना परम पवित्र धार्मिक कर्तव्य समझते थे।

आरम्भिक काल के नेताओं ने अपने अथक अध्ययन तथा लेखों द्वारा लोगों को भारत में अंग्रेजी राज्य के सच्चे स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया। उन्होंने आकड़ों से यह सिद्ध किया कि अंग्रेजी राज्य तथा उसकी नीतियां ही भारत की दरिद्रता का मूल कारण है। दादा भाई नौरोजी ने अंग्रेजी राज्य की शोषण नीतियों का अनावरण कर दिया और कहा कि यह राज्य भारत को दिन प्रतिदिन लूटने में रत है।[2] इसी प्रकार आनन्द चारलू, आर० एल० मुधोतकर, दिनशा वाचा, गोपाल कृष्ण गोखले,

1. विपिन चन्द्र :भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय 1990, पृ० 89
2. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल आधुनिक भारत का इतिहास एस० चन्द कम्पनी लि०, रामनगर, नई दिल्ली 2002, पृ० 304

मदनमोहन मालवीय इत्यादि अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने अंग्रेजी राज्य के ढोल की पोल खोल दी और बताया कि इस राज्य का वास्तविक रूप केवल शोपक ही है।[1] श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने यह स्पष्ट किया कि सेवाओं की भर्ती में अग्रेजों की कथनी और करनी में बहुत अधिक अन्तर है। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में ही भारत की बढ़ती हुई दारिद्रता की ओर ध्यान आकर्षित किया गया और यह प्रस्ताव प्रत्येक वर्ष पारित किया जाता था। इसके लिए उन्होंने सैनिक और असैनिक पदों पर ऊँचे-ऊँचे वेतन, गृहशासन के बढ़ते हुए व्यय, भेदभाव पूर्ण आयात तथा निर्यात की नीति, अदूरदर्शी भूमि कर नीति, भारत के उद्योगीकरण के प्रति उदासीनता और भारतीयों को अच्छे पदों और सेवाओं से वंचित रखना इत्यादि तथ्यों को उत्तरदायी ठहराया। रानाडे की Essays in Indian Economics. दादा भाई नौरोजी की Indian Poverty and Un-British Rule in India (1901) इत्यादि पुस्तकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नई पीढ़ी के नेताओं ने इन्हीं पुस्तकों से तथ्य लेकर अंग्रेजी राज्य की आलोचना की।[2]

कांग्रेस के पहले पन्द्रह-बीस वर्ष की उपलब्धियों से तरुण लोग सन्तुष्ट नहीं थे। उनका अंग्रेजों की न्याययिका तथा बराबरी की भावना पर कोई विश्वस नहीं था। वे लोग शांतिमय और संवैधानिक ढंगों के आलोचक बन गए और वे समझने लगे कि याचना, प्रार्थना तथा प्रतिवाद (Patition, Prayer and Protest) करने की नीति से कुछ नहीं मिलने वाला। उन्होंने यूरोपीय साम्राज्यवाद को समाप्त करने के लिए यूरोपीय ढंग ही अपनाने पर बल दिया।[3]

1905 में लाला लाजपतराय ने इंग्लैण्ड से लौटने पर अपने देशवासियों को यह बतलाया कि अंग्रेजी प्रजातन्त्र अपनी ही समस्याओं में इतना उलझा हुआ है कि उनके पास हमारी समस्याओं के

---

1. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल, वही, पृ० 304.
2. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल: आधुनिक भारत का इतिहास, एस० चन्द कम्पनी लि० रामनगर नई दिल्ली 2002, पृ० 304.
3. दुर्गादास : कर्जन से नेहरू और उसके पश्चात् रूपा पेपरबैक 1969 पृ० 468

लिए कोई समय नहीं। वहाँ के समाचार पत्र हमारा पक्ष प्रस्तुत नहीं करेंगे और वहाँ किसी को अपनी बात सुनने का अवसर प्राप्त करना बहुत कठिन है। उन्होंने कहा कि यदि आप स्वतंत्रता चाहते हैं तो स्वयं कार्य करना पड़ेगा और अपनी तत्परता के स्पष्ट प्रमाण देने होंगे।[1]

उग्रवादी राष्ट्रवादीयों ने उदारवादियों पर यह दोष लगाया कि वे केवल मध्यम वर्गी बुद्धिजीवियों के लिए काम करते हैं और कांग्रेस की सदस्यता इन मध्यम वर्गीय लोगों तक ही सीमित है। उन्हें यह भय है कि यदि जन साधारण इस आन्दोलन में आ गए तो उनका नेतृत्व समाप्त हो जाएगा। अत: उदारवादी दल वालों को देशभक्ति के नाम पर व्यापार करने का दोषी ठहराया गया। **तिलक ने कांग्रेस** को चापलूसों का सम्मेलन (Congress of Flatterers)[2] और कांग्रेस के अधिवेशनों को छुट्टियों का मनोरंजन (a holiday recreation) बतलाया और **लाला लाजपतराय** ने कांग्रेस सम्मेलनों को **"शिक्षित भारतीयों का वार्षिक राष्ट्रीय मेला"**[3] (The annual national festival of educated indians)। दोनों ही कांग्रेस कार्यों के बड़े आलोचक थे। तिलक ने तो यहाँ तक कहा था, "यदि हम वर्ष में एक बार मेंढक की भाँति टर्राएं तो हमें कुछ नहीं मिलेगा।"[4]

लार्ड बेकन का यह कथन भारत के उग्रवाद पर पूरे तौर से लागू होता है कि 'अधिक दरिद्रता और आर्थिक असन्तोष क्रान्ति को जन्म देता है।"[5]सरकार द्वारा निरन्तर भारत विरोधी नीतियां अपनायी जा रही थी। शासन के द्वारा 1894 में विदेशी माल पर आयात कर समाप्त कर दिया गया, इससे देशी समान महँगा हो गया और विदेशी सामान सस्ते दामों पर बिकने लगा। सरकार की इस

---

1. लाजपत राय : यंग इण्डया, पृ० 170
2. रामगोपाल : लोकमान्य तिलक, पृ० 130
3. लाजपतराय : यंग इण्डिया, पृ० 170
4. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास, एस० चन्द कम्पनी लि० रामनगर, नई दिल्ली 2002 पृ० 305.
5. ए० आर० देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की समाजिक पृष्ठभूमि, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लि० 1976, पृ० 181।

नीति के कारण ही स्वदेशी आन्दोलन चला। इसके अलावा शिक्षण संस्थाओं की वृद्धि के साथ-साथ शिक्षित भारतीयों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही थी, लेकिन शासन द्वारा शिक्षित भारतीयों को उनकी योग्यता के अनुसार पद प्रदान नहीं किए जारहे थे। इससे भी उन्हें निराशा और तीव्र असन्तोष की भावना उत्पन्न हुई। **श्री ए० आर० देसाई के अनुसार** "भारत में उग्रवाद के उदय का एक प्रमुख कारण शिक्षित भारतीयों में बेकारी से उत्पन्न राजनीतिक असन्तोष था।"[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में भारत की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति ने भारतीय राष्ट्रीय प्रक्रिया में उग्रवाद के उदय में विशेष योगदान दिया। 1896-97 और 1899-1900 के भीषण अकाल और महाराष्ट्र के प्लेग से लाखों लोग मृत्यु ग्रस्त हो गए।[2] सरकारी सहायता कार्य बहुत थोड़ा था तथा बहुत धीरे-धीरे होता था और व्यवस्था भी ठीक नहीं थी। **तिलक के अनुसार—** "सरकारी अधिकारी कठोर और भ्रष्ट थे और सहायता के स्थान पर अधिक हानि कारक थे। उन्होंने तो यहाँ तक कहा, "प्लेग हमारे लिए सरकारी प्रयत्नो से कम निर्दयी है।"[3] दक्कन में दंगे हो गये। सरकार ने लोक मत तथा दंगों को दबाने का प्रयत्न किया। जनता ने अकालों को भी सरकार की नीतियों का परिणाम ही बताया। 1903 की कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में लाल मोहन घोष ने 1902 के दरबार का उल्लेख इस प्रकार किया, "एक सरकार का निर्धन जनता पर भारी कर लगाकर एक बड़े भारी समारोह का मनाना जिसमें अतिशबाजी और भव्य दृश्यों पर रुपया व्यय किया जाए, जबकि लाखों लोग भूख से मर रहे हैं, इससे अधिक हृदयहीनता कुछ नहीं हो सकती।"[4] इस तरह के व्यवहार को जनता सहन न कर सकी और इसके परिणामस्वरूप जनता में इतना रोष फैल गया कि रैण्ड और उसके एक साथी अर्पेस्ट को एक नवयुक द्वारा गोली से उड़ा दिया गया।

---

1. ए० आर० देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि-पृ० 182.
2. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास, एस० चन्द कम्पनी लि० रामनगर नई दिल्ली 2002 पृ० 305.
3. राम गोपाल : लोकमान्य तिलक पृ० 137.
4. Congress Presidential Addrerses (Madras) Vol I. P. 62

उग्र राष्ट्रीय उदय का एक अन्य कारण था—अंग्रेजो का भारतीयों के प्रति अहंकार युक्त व्यवहार और आंग्ल भारतीय पत्रों का भारत विरोधी दृष्टिकोण और प्रसार। दिन प्रतिदिन के जीवन में भारतीयों के साथ अपमान जनक व्यवहार किया जाना, अनेक बार ब्रिटिश सैनिकों और अन्य व्यक्तियों ने भारतीयों के साथ घातक मारपीट की और कई बार आहत व्यक्ति मर भी गये, लेकिन अंग्रेज अपराधी दण्ड से बच गये या उन्हें बहुत साधारण सा दण्ड दिया गया। लार्ड रोनाल्डशे अपनी पुस्तक में इस प्रकार की दो घटनाओं के उदाहरण देते है।[1] इन अपराधों और हत्याओं से भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि आंग्ल भारतीय समाचार पत्रों द्वारा इस प्रकार के व्यवहारों को प्रोत्साहित किया जाता था। लाहौर से प्रकाशित आंग्ल भारतीय दैनिक 'दो सिविल एण्ड मिलिट्री गजट' तो भारतीयों को भी खोलकर गालियाँ देता था और पढ़े लिखे भारतीयों को **'बलबलाते बी० ए०, वर्णशंकर बी० ए० गुलाम दास जाति और कलंकी जाति** जैसे अपमानजनक शब्दों से सम्बोधित करता था।[2] इस अपमानजनक व्यवहार की भारतीयों में प्रतिक्रिया होना नितान्त स्वाभाविक था।

ब्रिटिश उपनिवेशों विशेषकर नेपाल और दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के साथ, किये जाने वाला दुर्व्यवहार उग्रवादी राष्ट्रीयता को पनपने का एक अन्य कारण था। इस दुर्व्यवहार के कारण 1903 में दक्षिणी अफ्रीका से लौटकर **Dr.-B.S. Moonje** ने दुःख पूर्वक कहाँ—Our rulers do not belive that we are men.[3] भारतीयों के द्वारा यह अनुभव किया गया कि उन भारतीयों के साथ भारत राष्ट्र की पराधीनता के कारण ही दुर्व्यवहार किया जारहा है और इसकी समाप्ति का एकमात्र उपाय भारत के लिए स्वतंत्रता की प्राप्ति है।

---

1. Ronaldshay, Life of Lord Curzon. Vol .II. P-246.
2. विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, वरुण दे : स्वतंत्रता संग्राम, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली 1972 पृ० 71.
3. Dr. B.S. Moonja. Quoted from Dr. pattabhis. History of I. N. C. Vol.I. Padma Publication. 1935 P. 47

जब भारतीयों के अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के माध्यम से मैजिनी, र्प्क, गैरी वाल्दी और वाशिंगटन के स्वतन्त्रता युद्ध, आयरलैण्ड का संघर्ष, इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति का इतिहास पढ़ा, तो वे स्वतंत्रता की ओर बढ़े और उनके द्वारा उग्र राष्ट्रीयता का मार्ग अपना लिया गया।

उग्र राष्ट्रीयता के उदय में बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिन चन्द्र पाल तथा अरविन्द घोष का नेतृत्व एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण था। ये नेता अटूट देशभक्त और ब्रिटिश शासन के कट्टर शत्रु थे। इन नेताओं ने नये दल की नीतियों की परिभाषा की, इनकी अभिलाषाओं को व्यक्त किया और इनके कार्यों का मार्गदर्शन किया। **तिलक ने यह कहकर** कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।" इन लोगों को एक नारा दिया। उन्होंने कहा था—"स्वधम अथवा स्वशासन, सन्दर्भ के लिए आवश्यक है। स्वराज्य के बिना कोई सामाजिक सुधार नहीं हो सकते, न कोई औद्योगिक प्रगति, न कोई उपयोगी शिक्षा और न ही राष्ट्रीय जीवन की परिपूर्णता। यही हम चाहते है और इसी के लिए ईश्वर ने मुझे संसार में भेजा है।"[1] **विपिन चन्द पाल** ने इस दल की मांगों की इस शब्दों में व्याख्या की : "देश में नया सुधार (reform) नहीं, अपितु पुनर्गठन (re-form) की आवश्यकता है। इंग्लैण्ड को भारतीय सरकार की नीति निर्माण का अधिकार छोड़ देना चाहिए और एक विदेशी सरकार को जो कानून चाहे बना सकने का अथवा अपनी इच्छा से जैसा चाहे शासन करे, यह अधिकार त्याग देना चाहिए। उन्हें अपनी इच्छा से कर लगाने, और अपनी इच्छा से धन को व्यय करने का अधिकार भी छोड़ना होगा।"[2]

लाला लाजपतराय ने अपनी सशक्त वाणी मे कहा, "अंग्रेज भिखारी से सबसे अधिक घृणा करते है और मैं सोचता हूँ कि भिखारी घृणा का पात्र है भी। अत: हमारा यह कर्तव्य है कि हम सिद्ध कर

1. टी० वी० पर्वते: बाल गंगाधर तिलक, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1968 पृ० 298.
2. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल : आधुनिक भारतीय इतिहास, एम० चन्द कम्पनी लि०, रामनगर नयी दिल्ली, 2002, पृ० 306.

दे कि हम भिखारी नहीं है।"[1] इन नेताओं ने भिक्षावृत्ति का मार्ग त्यागकर आन्दोलन का मार्ग अपनाने पर जोर दिया और महाराष्ट्र, पंजाब, बंगाल तथा अन्य क्षेत्रों में जागृति की अपूर्व लहरउत्पन्न कर दी। **लाला लाजपत राय** ने आगे कहा, "जैसे दास की आत्मा नहीं होती इसी प्रकार दास जाति की कोई आत्मा नहीं होती। और आत्मा के बिना मनुष्य केवल पशु है। इसलिए देश के लिए स्वराज्य परम आवश्यक है और सुधार अथवा उत्तम राज्य इसके विकल्प नहीं हो सकते।"[2]

अरविन्द घोष स्वराज्य को "भारत के प्राचीन जीवन को आधुनिक परिस्थितियों में परिपूर्ण होना और राष्ट्रीय गौरव का सतयुग मानते थे जिसमें भारत पुन: एक गुरू और मार्गदर्शक के रूप में अपनी भूमिका निभाए, लोगों की आत्ममुक्ति हो ताकि राजनीतिक जीवन में वेदान्त के आदर्श प्राप्त किए जा सकें। यही भारत के लिए सच्चा स्वराज्य होगा।"[3] उनके अनुसार, "राजनीतिक स्वतंत्रता एक राष्ट्र का जीवन श्वास है। बिना राजनीतिक स्वतंत्रता के सामाजिक तथा शैक्षणिक सुधार, औद्योगिक प्रयास, एक जाति की नैतिक उन्नति इत्यादि की बात सोचना मूर्खता की चरम सीमा है।[4]

भारत में उग्रवाद के उदय के लिए यदि कोई एक कारण सबसे अधिक प्रमुख रूप से उत्तरदायी कहा जा सकता है तो वह है लार्ड कर्जन का प्रतिक्रियावादी शासन। 1898 से 1905 तक भारत के गवर्नर जनरल के रूप में नौकरशाही के साक्षात प्रतिरूप लार्ड कर्जन ने ब्रिटिश साम्राज्य के लिए वही कार्य किया, जो मुगल साम्राज्य के लिए औरंगजेब ने किया था।[5]

---

1. आर० सी० अग्रवाल : भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, एस० चन्द कम्पनी लि० रामनगर नई दिल्ली 1992, पृ० 263.
2. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल : आधुनिक भारतीय इतिहास, एस० एन० कम्पनी लि०, रामनगर, नई दिल्ली 2002 पृ 306.
3. Aurobindo : Bande Matram, 3 May, 1908.
4. Aurobindo _ Bande Matram . 3 May. 1908.
5. इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० 10.

लार्ड कर्जन ने 1891 में 'कलकत्ता कारपोरेशन अधिनियम' पास कर कॉरपोरेशन में भारतीयों की सदस्य संख्या घटाकर आधी कर दी। इसी प्रकार 1904 में 'भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम' पास कर विश्वविद्यालय की सीनेट और सिण्डीकेट में भारतीयों का प्रतिनिधित्व कम कर दिया गया। 1904 के 'प्रशासकीय गुप्तता अधिनियम' के द्वारा उन्होंने समाचार पत्रों की स्वतंत्रता को और सीमित कर दिया। 1905 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति पद से दिये गये **दीक्षान्त भाषण में कर्जन ने कहा** कि, "भारतवासियों में सत्य के प्रति आस्था नहीं है और वास्तव में भारत वर्ष में सत्य को कभी आदर्श माना ही नहीं गया है।"उन्होंने कहा भारत नाम की कोई वस्तु ही नहीं है।" लार्ड कर्जन द्वारा व्यक्त किये गये इन अपमानजनक शब्दों का विरोध करने के लिए एनी बेसेण्ट के शब्दों में सारा भारत राष्ट्र एक व्यक्ति के रूप में उठ खड़ा हुआ।"[1]

लार्ड कर्जन का सबसे घृणित कार्य बंगाल को दो भागों में अथवा बंगाल तथा पूर्वी बंगाल और असम में विभाजित करना था। (1905) यह कार्य बंगाल और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस[2] के कड़े विरोध की उपेक्षा करके किया गया। यद्यपि इस विभाजन के पक्ष में सरकार का कथन था कि बंगाल जैसे बड़े प्रान्त पर एक ही केन्द्र से शासन नहीं किया जा सकता और सुशासन के हित में उसका विभाजन आवश्यक है लेकिन वास्तव में, जैसा कि **जकारिया ने लिखा है** "उद्देश्य और प्रभाव की दृष्टि से बंगाल के विभाजन का कार्य नितान्त धूर्ततापूर्ण था।"[3] वास्तव में बंगाल का यह विभाजन 'फूट डालों और राज्य करों में कर्जन का उद्देश्य बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना को कुचल देना था, लेकिन व्यवहार में इस कार्य के परिणामस्वरूप न केवल बंगाल वरन् सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीयता की अभूतपूर्व भावना को जन्म दिया।

---

1. Durga Das : India from curzon to Nehru and after Alld. Rupa Paper back. c 1969-p-2
2. Report on the Twentieth Congress. 1904 Resolution XIV
3. विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, वरुण दे; स्वतंत्रता संग्राम, नेशनल बुक ट्रस्ट इंण्डियन नइ दिल्ली 1972 पृ० 72.

उपर्युक्त सभी कारणों के परिणामस्वरूप भारत में उग्र राष्ट्रवाद का उदय नितान्त स्वभाविक ही था।

उग्रवादियों ने राष्ट्रवाद को केवल नागरिक, आर्थिक एवं राजनीतिक आदर्श न मानकर एक पुनीत धर्म का स्वरूप दिया। अन्य समस्त आदर्शों का प्रस्फुटन इसी आदर्श के सम्बन्धित माना। उनका राष्ट्रवाद यूरोप के राष्ट्रवाद सदृश्य स्वार्थपरायणता पर आधारित नहीं था। देश के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने की धार्मिक प्रेरणा से इस राष्ट्रवाद को अनुप्राणित किया गया। तर्क के स्थान पर आस्था एवं उपदेश के स्थान पर अनुभूति का इसमें प्राधान्य था। ज्ञान के स्थान पर भक्ति एवं कर्म की इसमें विशेष स्थिति स्वीकृत हुयी थी।[1]

उग्रराष्ट्रवाद मानसिक दृष्टि से दासता से उन्मुक्ति का पोषक था। दर्शन एवं साहित्य के क्षेत्र में भारतीयों के योगदान को किसी भी दृष्टि से हेय नहीं स्वीकार किया गया था। वेदों की प्राचीनता एवं उनमें निहित ज्ञान समस्त संसार के मार्गदर्शन का आधार माना गया था। मानसिक दासता से मुक्ति दिलाने के रचनात्मक प्रयास में उग्रवादियों ने उदारवादियों के ''वंदेमातपितरौ''[2] के रवैये के विपरीत ''वन्देमातरम'' का सन्देश उद्घोषित किया।

कांग्रेस में फूट का आरम्भ उदारवादी ओर उग्रवादी— 1905 का बनारस अधिवेशन— भारतीय राजनीति में उग्रवाद के उदय से कांग्रेस संगठन का प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक था। 1905 के बनारस अधिवेशन में बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में राष्ट्रवादियों के एक वर्ग ने उदारवादियों की 'राजनीतिक भिक्षा वृत्ति की नीति की तीव्र निन्दा की और इस बात का प्रतिपादन किया कि संगठित

---

1. पुरुषोत्तम नागर : आधुनिक भारतीय समाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1980, पृ० 91.

2. पुरूषोत्तम नागर : वही, पृ० 91.

निष्क्रय प्रतिरोध के मार्ग को अपानाकर ही भारत के राष्ट्रीय जीवन पर विदेशी नौकरशाही के प्रभुत्व का अन्त किया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिश माल और सरकारी शिक्षण संस्थाओं का भी संगठित और निरन्तर बहिष्कार किया जाना चाहिए, लेकिन उदारवादी निष्क्रिय प्रतिरोध को कम अधिक रूप में अव्यवहारिक मानते थे और उनका विचार था कि इससे राष्ट्रीय प्रगति अवरूद्ध ही होगी। उदारवादियों को अब भी ब्रिटिश न्याय भावना और संवैधानिक साधनों की प्रभावदायकता में विश्वास था। कांग्रेस के दोनों वर्गों में स्वराज्य की व्यवस्था के सम्बन्ध में भी भेद था।

उदारवादियों तथा उग्रवादियों के उपर्युक्त मतभेदों के कारण 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस विधिवत् रूप से दो वर्गों में बँट गयी—उदारवादी कांग्रेस तथा उग्रवादी कांग्रेस।[1]

उग्र राष्ट्रवाद उश्मारवाद के विरुद्ध भी उदारवाद ही बड़ा विद्रोह था, जितना कि स्वयं साम्राज्यवाद के विरुद्ध।[2] उदारवादी समझते थे कि ब्रिटेन और भारत के अन्तिम हित समान है और ब्रिटिश साम्राज्य स्वयं भारत के हित में है लेकिन उग्रवादियों के अनुसार ब्रिटेन और भारत के हित परस्पर नितान्त विरोधी है, और ब्रिटिश साम्राज्य के साथ कितना ही सहयोग क्यों न किया जाय, उसके द्वारा भारत अपने राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। **विपिन चन्द्र पाल का** मत था कि ब्रिटेन के आर्थिक हितों की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक था कि भारत पर उसका राजनीतिक नियन्त्रण बना रहे, अत: युद्ध के बिना भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त होना नितान्त असम्भव है। लाला लाजपत राय और अन्य उग्रवादियों का विचार था कि ''व्यापारियों का यह राष्ट्र (ब्रिटेन) केवल दबाव की भाषा ही समझता है।''[3]

---

1. विपिन चन्द्र : भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1990.
2. A.R. Desais, Social Background of Indian Nationalism, P 298
3. ताराचन्द : भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1972 - पृ० 484.

उदारवादियों तथा उग्रवादियों में राजनीतिक लक्ष्य का अन्तर भी था। उदारवादियों का विचार था कि ब्रिटिश शासन में सुधार किया जा सकता है एवं क्रमिक सुधार ही उपयुक्त और भारत के हित में है। इसी कारण उनके द्वारा विधायी परिषदों के सुधार और उनकी शक्ति में वृद्धि, भारतीयों के लिए उच्च सरकारी पद और स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की स्थापना आदि की मांगे की जाती थीं। लेकिन उग्रवादियों का विचार था कि ब्रिटिश शासन में सुधार किया ही नहीं जा सकता, उसका तो अन्त किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में अपनी विचारधारा स्पष्ट करते हुए **विपिन चन्द्र पाल** ने मद्रास के अपने एक भाषण में कहा था, ''हमे यह देखना चाहिए कि 50, 100, 200 या 300 भारतीय अधिकारी क्या इस सरकार को भारतीय सरकार बना देंगे? —सभी अफसर भारतीय हो जाये तब भी वे नीति निर्धारित नहीं कर सकते, शासन नहीं चला सकते, वे तो सिर्फ हुक्म बजा सकते हैं—अफसर गोरा हो या काला उसे परम्पराएं निबाहनी होती है, कानून और नीति का पालन करना पड़ता है और जब तक परम्पराएं न तोड़ी जायँ, सिद्धान्त न बदले जायें, नीति न बदली जाए, गोरे अधिकारियों की जगह काले अधिकारियों की नियुक्ति कर देने से स्वराज्य नहीं आ जायेगा।[1]

राजनीतिक विचारधारा और लक्ष्य की दृष्टि से तो उग्रवादी उदारवादियों से भिन्न थे ही, इन दोनों में से इससे भी अधिक महत्वपूर्ण अन्तर साधन सम्बन्धी था। **नेविन्सन ने तिलक को यह कहते हुए उद्धत किया है** कि "It is not by our purpse, but by methods only that our party has earned the name of extremists"[2] **विपिन चन्द्र पाल का विचार था** कि स्वराज्य स्वालम्बन के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है। उनका कहना था कि ''यदि सरकार मेरे पास आकार कहे कि स्वराज्य ले लो तो मैं उपहार के लिए धन्यवाद देते हुए कहूंगा कि मैं उस वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकता जिसकों प्राप्त

1. रामगोपाल : भारतीय राजनीति —पृ० 97.

2. A Quoted by Nevinson : The New Sprit in India , P-226

करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है।[1] तिलक उग्रवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहते थे, ''हमरा ।आदर्श दया याचना नहीं, आत्मा निर्भरता है।'' वे उग्रवादी शासकों के प्रति भक्ति और सहयोग की नीति अपनाने के स्थान पर 'निष्क्रय प्रतिरोध के कार्य क्रम को अपनाने के पक्ष में थे।[2] इस निष्क्रिय प्रतिरोध के सम्बन्ध में **विपिन चन्द्र पाल ने कहा** कि ''सरकार के कार्य को कई प्रकार से ठप किया जा सकता है। ऐसा सम्भव नहीं है कि प्रत्येक मजिस्ट्रेट कार्य करने से इंकार कर दे तथा एक व्यक्ति के त्यागपत्र देने पर उसके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति न मिले। परन्तु सारे देश में यह भावना जाग्रत हो जाय तो समस्त सरकारी कार्यालयों में हड़ताल की जा सकी है—हम उस भारतीय की स्थिति जो सरकारी कर्मचारी है, ऐसी कर सकते है कि जैसे वह भारतीय नागरिक के सममान से नीचे गिर गया हो।''[3]

बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा— उग्रवादियों ने विदेशी माल का बहिष्कार और स्वदेशी माल अंगीकार करने को कहा। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय शिक्षा और सत्याग्रह पर भी बल दिया गया। उग्रवादियों के बहिष्कार आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्ति तो विदेशी वस्तुओं के ही विरुद्ध थी, परन्तु इसकी व्यापक व्याख्या में, इसमें सरकार के साथ सहयोग, सरकारी नौकरियों, प्रतिष्ठानों तथा उपाधियों का बहिष्कार भी शामिल था। उग्रवादियों की मान्यता थी कि बहिष्कार विदेशी शासन की प्रतिष्ठा और हितों के ऊपर एक सीधा आघात होगा। **लाला लाज पत राय के अनुसार,** ''दुकानदारों की जाति ब्रिटिश राज्य को नैतिकता के ऊपर आश्रित तर्कों की अपेक्षा व्यापार में घाटा होने की बात अधिक प्रभावित कर सकती है।''[4] एक दूसरे स्थान पर वे बहिष्कार आन्दोलन में निहित विचारधारा

---

1. Valantine Chirol. Indian Unrest. PP.11-12.
2. पुरूषोत्तम नागर, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 180. पृ० 91
3. पट्टयाभि मीतारमैया :कांग्रेस का इतिहास भाग I पद्मा पब्लिकेशन्स, 1935, पृ० 64
4. बी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास, एस० चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड रामनगर नई दिल्ली : उन्नीसवा संस्करण 2002 पृ० 307.

को स्पष्ट करते हुए लिखते है, "हम अपने मुख सरकारी भवनों से हटाकर साधारणजनों की कुटियों की तरफ ले जाना चाहते है। बहिष्कार आन्दोलन का यही मनोवैज्ञानिक, यही नैतिक और यही आध्यात्मिक महत्व है।"[1] उग्रवादी नेता दृढ़तापूर्वक स्वदेशी को स्वदेश की मुक्ति का मार्ग मसझते थे। तिलक ने केसरी में लिखा, "हमारा राज्य एक वृक्ष की तरह है जिसका मूल तना स्वराज्य है और स्वदेशी तथा बहिष्कार उसकी शाखाएँ।"[2]सरकार नियन्त्रित शिक्षा संस्थाओं के स्थान पर एक राष्ट्रीय शिक्षा योजना बनाई गई। उग्रवादी दल की योजना थी कि विद्यार्थियों को देश सेवा में लगाया जाए। सर गुरूदास बैनर्जी ने बंगाल राष्ट्रीय शिक्षा परिपद बनाई। मद्रास में पछैय्या राष्ट्रीय कॉलेज स्थापित किया गया। पंजाब में डी० ए० वी० आन्दोलन ने जोर पकड़ा[3]

भारत में उग्र राष्ट्रीयता के जन्मदाता तथा निर्मयता से राष्ट्र की वेदना को प्रकट करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति बालगंगाधर तिलक थे। डॉ० आर० सी० मजूमदार लिखते है—"अपने देशप्रेम तथा अथक प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप बाल गंगाधर तिलक 'लोकमान्य' कहलाये जाने लगे और उनकी एक देवता के समान पूजा होने लगी। वह जहाँ कहीं भी जाते थे, उनका राजकीय सम्मान तथा स्वागत किया जाता था।[4]

उदारवादियों तथा उग्रवादियों दोनों में कुछ अन्तर होते हुए भी ये दोनों सच्चे देशभक्त थे और इस दृष्टि से वे एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् सच्चे अर्थों में एक दूसरे के पूरक थे। श्रीराम नाथ सुमन ने इस सम्बन्ध में "हमारे राष्ट्र निर्माता" में लिखा है, "जब हम नरम व गरम दोनों दलो की प्रवृत्तियों

---

1. बी० एल० ग्रोवर, वहीं, पृ० 307.
2. विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, वरूण दे, स्वतंत्रता संग्राम, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंजिया , नयी दिल्ली , 1972 पृ० 89.
3. वी० एल० ग्रोवर तथा यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास, एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि० रामनगर, नई दिल्ली 2002 पृ० 307.
4. R. C. Majumdar : History of Freedom Movemat in India, Cal. Firma K. L. Mukhopadhayay 1971-P.356.

का विश्लेपण और अध्ययन करते है तो स्पष्ट होता है कि हमारे राष्ट्रीयता के विकास में दोनों एक दूसरे के पूरक है और दोनों हमारी राजनीति के स्वभाविक उपकरण है। वस्तुत: वे दोनों एक ही आन्दोलन के दो पक्ष है। एक ही दीपक के दो परिणाम है। पहला प्रकाश का द्योतक है तो दूसरा गर्मी का। पहला बुद्धि पक्ष है, दूसरा भाव पक्ष। पहला जहाँ कुछ सुविधाएं प्राप्त करना चाहता है, वहाँ दूसरे का उद्देश्य राष्ट्र में मानसिक परिवर्तन करना है।''[1]

---

1. राम नाथ सुमन : हमारे राष्ट्र निर्मांता पृ० 167.

अध्याय—3

बालगंगाधर तिलक के राजनीतिक और सामाजिक विचार

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में राष्ट्रवाद की चेतना विकसित करने में देश के बौद्धिक वर्ग की विशेष भूमिका रही। जिस प्रकार यूरोप में इटली के पुर्नजागरण और जर्मनी के सुधारवाद ने यूरोपीय राष्ट्रीयता की बौद्धिक आधारशिला रखी उसी प्रकार भारत में विभिन्न समाज सुधारकों अध्यात्म पुरूषों एवं प्रबुद्ध राजनेताओं ने स्वराज भावना से राष्ट्रयता के प्रति देश में तीव्र लालसा उत्पन्नकी।

धर्म दर्शन और संस्कृति के नवीन संस्कार चेतना को ग्रहण करते हुये भारतीय राष्ट्रीयतावाद, पुर्नजागरण के रूप में देश के समक्ष आया, किन्तु यहाँ भारतीय और यूरोपीय पुर्नजागरण में मौलिक अन्तरथा। यूरोपीय पुर्नजागरण मुख्यत: बौद्धिक तथा भावनात्मक था जबकि भारतीय पुर्नजागरण नैतिक और आध्यात्मिक सृजनात्मक चेतना से संस्कारित था। ब्रह्म समाज, आर्य समाज जैसी अनेक संस्थाओं ने भारतीय पुर्नजागरण को एक नई दिशा दी। ब्रह्म समाज ने सामाजिक जड़ता को तोड़ा तो आर्य समाज ने बौद्धिक पुर्नरूत्थान के सशक्त पक्षधर होने के बावजूद राष्ट्रीयता के उत्थान में विशेष भूमिका निभाई।

राजाराममोहन राय, विवेकानन्द, अरविन्द घोष, महात्मा गाँधी, मानवेन्द्र नाथ राय आदि अनेक प्रबुद्ध व्यक्तियों ने भारतीय पुर्नजागरण को केवल राजनीति के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहने दिया बल्कि उसे धार्मिक, सामाजिक और अनन्त: सांस्कृतिक क्षेत्र में भी नई चेतना के साथ सम्पृक्त किया।

इन्ही प्रबुद्ध व्यक्तियों में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, और गोपाल कृष्ण गोखले का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने नवीन, दृढ़ स्वावलम्बी राष्ट्रवादी भावना और अपने सामाजिक और राजनीतिक विचारों से पुर्नजागरण की चेतना को प्रबुद्ध और पुष्ट किया।

1856 में महाराष्ट्र के रत्नागिरि शहर में जन्में बाल गंगाधर तिलक, देशभक्त , राष्ट्रनिर्माता, वेदवेत्ता, महान गणितज्ञ, भागवद्‌गीता के विशाल भाव्यप्रणेता का हमारे देश के इतिहास में एक अनूठा स्थान है। राष्ट्रवादी आन्दोलन के राष्ट्रीय मंच पर बाल गंगाधर तिलक का अद्‌भुत स्थान था और लोग स्नेह तथा सम्मान से उन्हें 'लोकमान्य जनता के प्रिय नायक, 'सर्व सम्मानित कहकर पुकारते थे। लोकमान्य तिलक का राजनीतिक मन्त्र—"स्वशासन मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा"—अधिकांश सजग भारतीयों के होठों पर था। तिलक ऐसे अग्रणी नेता थे जिन्होंने राजनीतिक आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए धार्मिक उत्साह का प्रयोग किया। वे कांग्रेस के उग्रवादी नेता थे और जीवन के प्रत्येक पहलू में खरें उतरे, उन्हेंने आदर्श और यथार्थ दोनों का निर्वाह किया। गीता दर्शन पर उनकी टिप्पणी और 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज' नाम वह ग्रन्थ जिसने हिन्दूओं के आदि ग्रन्थ वेदों का जन्म स्थान आर्जटिक प्रदेश में सिद्ध किया गया है—उनके विशाल अध्ययन तथा अनुसंधान में उनकी गहरी रूचि का प्रमाण है।[1]

तिलक समाज सुधार से पहले राजनैतिक सुधार करने पर जोर देते थे, किन्तु वह कभी भी रूढ़िवादी न थे, और पुरानी परिपाटी को बदलने के पक्ष में थे।[2] उनके अनुसार, "मैं इसमें विश्वास नहीं करता कि राजनैतिक मक्ति के पूर्व ही सामाजिक पुन-निर्माण का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक हमें अपना भविष्य स्वयं निश्चित करने की शक्ति नहीं प्राप्त हो जाती, तब तक मेरी राय में, राष्ट्रीय पुनर्जागरण नहीं लाया जा सकता। मैने अपने जीवन में सदा इसी विश्वास का प्रचार किया है। जन मैने 'एज ऑफ कन्सेन्ट बिल' का विरोध किया था, तो वह मुख्यटया केवल इसी आधार पर। मैं न तो तब समझता था और न ही अब समझता हूँ कि ऐसा कोई भी विधान मण्डल, जो जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं है, सामाजिक विषयों पर कानून बनाने के लिए सक्षम है।[3]

---

1. दुर्गादास : भारत कर्जन से नेहरू और उसके पश्चात पृ० 60.
2. एन० जी० जोग : आधुनिक भारत के निर्माता, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, 1969, पृ० 27.
3. एन० जी० जोग : आधुनिक भारत के निर्माता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, 1969, पृ० 36.

राजनीतिक विचार— भारतीय उग्रराष्ट्रवाद के जनक तिलक थे जिन्होंने भारतीय राजनीतिक को एक नई दिशा प्रदान करके कांग्रेस को एक जन आन्दोलन में परिणत किया। तिलक ने जनता और नेताओं के सामने एक रचनात्मक कार्यक्रम विकसित किया और स्वतन्त्र भारत की भूमिका की और संकेत किया—"एशिया तथा संसार की शक्ति के लिए यह नितान्त आवश्य है कि भारत को आत्म शासन प्रदान करके पूर्व में स्वतन्त्रता का गढ़ बना दिया जाय।"[1] 1889 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता प्राप्त करने से ही तिलक का राजनीतिक विचारों का क्रम प्रारम्भ होता है।[2]

राजनीतिक चिन्तन के आधार—राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में तिलक ने एक यर्थाथवादी व्यवहारिक नेता की भूमिका अदा की। यद्यपि तिलक के विचार और दृष्टिकोण में हमें यर्थाथवाद का तत्व देखने को मिलता है लेकिन वे मै मैकिमावली और हाब्स की भाँति के यर्थाथवादी नहीं थे और नहीं उन्हेने प्लेटो, अरस्तू या सिसरो की भांति सर्वोत्तम राज्य के लक्षणों और सम्भाभना का विवेचन किया।[3] तिलक के राजनीतिक चिन्तन में हमें भारतीय दर्शन की कुछ प्रमुख धारणाओं, तथा आधुनिक यूरोप के राष्ट्रवादी और लोकतांत्रिक विचारों का समन्वय देखने को मिलता है।[4] तिलक वेदान्ती थे उनके राजनीतिक विचारों पर तत्वशास्त्रीय मान्यताओं का अधिक प्रभाव पड़ा। उनके अनुसार वेदान्त के अद्वैतवादी तत्वशास्त्र में प्राकृतिक अधिकारों की राजनीतिक धारणा निहित है। परमात्मा ही परम् सत् है और सब मनुष्य उसी परमात्मा के अंश है। इसलिए उन सबमें वही स्वतन्त्र आध्यात्मिक शक्ति अन्तर्निहत है जो परमात्मा में पायी जाती है। अत: तिलक के अद्वैतवाद में स्वतन्त्रता की धारणा की सर्वोच्चता का सिद्धान्त पाया जाता है।[5] "स्वतन्त्रता ही होमरूल आन्दोलन

---

1. रामगोपाल : लोकमान्य तिलक, एशिया पब्लिशिंग हाऊस बम्बई 1965 पृ० 43.
2. रामगोपाल, वही, पृ० 43.
3. वी० पी० वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशन एवं विक्रेता, हास्पिटल रोड, आगरा, 1971, पृ० 251.
4. वी० पी० वर्मा : वही पृ० 25.
5. तिलक :गीता रहस्य, चित्रशाला स्टीम प्रेस, पूना, 1916, पृ० 399.

का प्राण थी। स्वतन्त्रता की ईश्वरीय भावना कभी वार्धक्य को प्राप्त नहीं होती।-----स्वतन्त्रता ही व्यक्तिगत आत्मा का जीवन है और व्यक्तिगत आत्मा ईश्वर से भिन्न नहीं है बल्कि वह स्वयं ईश्वरहै। यह स्वतनत्रता एक ऐसा सिद्धान्त है जिसका कभी विनाश नहीं हो सकता।[1] तिलक का विचार था कि विदेशी साम्राज्यवाद का कोई भी स्वरूप स्वतन्त्रता के लिए घातक है, क्योंकि वह राष्ट्र की आत्मा को विनष्ट कर देता है।[2]

तिलक के राजदर्शन में पाश्चात्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा। 1908 में उन्होंने राजद्रोह के मुकदमें के सम्बन्ध में न्यायालय में भाषण दिया उसमें जॉन स्टुऊट मिल की राष्ट्र की परिभाषा को स्वीकार किया।[3] 1919 में उन्होंने वितसन के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार किया, और माँग की कि उसको भारत के परिपेक्ष्य में लागू किया जाय।[4] अत: तिलक का राजदर्शन आत्मा की परम स्वतन्त्रता के वेदान्ती आदर्श और बर्क, मिल और वितसन की पाश्चात्य धारणा का समन्वय थी। इस समन्वय को उन्होंने 'स्वराज्य' शब्द के द्वारा व्यक्त किया। स्वराज्य एक वैदिक शब्द है जिसका प्रयोग महाराष्ट्र में शिवाजी के राज्यतन्त्र के लिए किया गया।

तिलक के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण वे स्वराज्य को मनुष्य का अधिकार ही नहीं, बल्कि धर्म भी मानते थे।[5] उन्होंने स्वराज्य की नैतिक और आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की। राजनीतिक रूप में उन्होंने स्वराज्य का अर्थ स्वशासन (होमरूल) बताया किन्तु नैतिक सन्दर्भ में इसका अर्थ आत्मनियन्त्रण की पूर्णता माना जो कि सबसे बड़ा स्वधर्म है। स्वराज्य का आध्यात्मिक महत्व बताते

---

1. स्पीचेज एण्ड राइटिंग ऑफ तिलक, जी० ए० नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास पृ० 354.
2. स्पीचेज एण्ड राइटिंग वही, 356.
3. Tilak's Trial, 1980, P-138.
4. तिलक का वितसन और क्लीमैंशों को 1919 में दिया गया पत्र। यह पत्र महाराष्ट्र में प्रकाशित हुआ था।
5. तिलक का 1916 की कांग्रेस के उपरान्त भक्तमाल में दिया गया भाषण, Speeches, पृ० 256.

हुए तिलक ने कहा कि इसका आशय अधिक स्वतन्त्रता से है। स्वराज्य की प्राप्ति आत्मा की स्वतन्त्रता के आधार पर ही हो सकती है।

तिलक के शब्दों में, ''अपने में केन्द्रित और अपने पर निर्भर जीवन ही स्वराज्य है। स्वराज्य परलोक में है और इस लोक में भी है। जिन ऋषियों ने स्वधर्म के नियम का प्रतिपादन किया, उन्होंने अन्त में वन की राह पकड़ी, क्योंकि जनता स्वराज्य का उपभोग कर रही थी, और उस स्वराज्य की रक्षा का भार क्षत्रिय राजाओं पर था। मेरा विश्वास है कि जिन लोगों ने इस संसार में स्वराज्य का उपभोग नहीं किया है वे परलोक में भी स्वराज्य के अधिकारी नहीं हो सकते।''[1] अतः तिलक ने राजनीतिक और आधात्मिक दोनों ही प्रकार की स्वतन्त्रता की बात की।

अपने समकालीन लालालाजपत राय, तथा विपिनचन्द्र पाल के समान तिलक भी प्रारम्भ में उदारवादी विचारधारा के थे। प्रारम्भ में उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विचार प्रकट करना प्रारम्भ नहीं किया था। वे भी अन्य उदारवादियों की तरह कांग्रेस के कार्यक्रम का समर्थन करते थे, और अपनी कांग्रेस की प्रारम्भिक दिनों की सदस्यता में यह स्वीकार करते थे कि कांग्रेस ने अपनी संवैधानिक नीति तथा प्रस्तावित सुधारों की मांग से अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त की। वे भी सरकार से सुविधाओं की मांग तथा प्रार्थना पर विश्वास करते थे। इस सम्बन्ध में 1891 के कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में उन्होंने कहा था, कि उनका लक्ष्य शासन को दुर्बल बनाना नहीं है। वे शासन को मजबुत बनाना चाहते थे ताकि भारत की सरकार अपने बाह्य विरोधियों का सामना कर सके।[2] किन्तु

---

1. वी० जी० तिलक, ''कर्मयोग एण्ड स्वराज्य ''स्पीचेज एण्ड राईटिंगस ऑफ तिलक पृ० 280.

2. रामगोपाल : लोकमान्य तिलक, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1965 पृ० 43.

तिलक के यह विचार अधिक दिनों तक स्थिर न रह सके। भारत में ब्रिटिश सरकार के राष्ट्र विरोधी कार्यों ने तथा उनके स्वयं के राष्ट्रवादी विचारों ने उन्हें सदा के लिए उदारवादियों से अलग कर दिया। 1895 में वे अंग्रेजों की न्यायप्रियता तथा उनकी दयालुता के झूठे दम्भ के विरोध में आवाज उठाई। वे मानने लगे कि भारतीयों के एवं ब्रिटिश शासकों के हित समान नहीं है। परिवर्तित विचारों के द्वारा वे उदारवादियों की प्रार्थना एवं याचिकाओं की नीति को भिक्षावृत्ति मानने लगे। उनके विचारों की उग्रता 1905 के बंगाल विभाजन के समय और भी स्पष्ट रूप से सामने आयी।[1]

राष्ट्रवाद तथा पुनरूत्थानवाद—तिलक की राष्ट्रीयता पुनरूत्थानवादी और पुनर्निर्माणवादी थी। उन्होंने वेदों और गीता से आध्यात्मिक शक्ति, तथा राष्ट्रीय उत्साह ग्रहण करने का सन्देश दिया और भारत की प्राचीन स्वरूप परम्पराओं के आधार पर भारतीय राष्ट्रवाद की स्थापना करनी चाहिए। 13 दिसम्बर 1919 को मराठा के अंक में उन्होंने लिखा—"सच्चा राष्ट्रवादी पुरानी नींव पर ही निर्माण करना चाहता है, जो सुधार पुरातन के प्रति घोर असम्मान की भावना पर आधारित है, उसे सच्चा राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नहीं समझता। हम अपनी संस्थाओं को अंग्रेजियत के ढांचे में नहीं ढालना चाहते, सामाजिक तथा राजनैतिक सुधार के नाम पर हम उनका अराष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते।"[2] इसलिए तिलक ने समझाया कि उन्होंने शिवाजी और गणपति उत्सवों को प्रोत्साहन इसलिए दिया है कि उनके द्वारा वर्तमान घटनाों और आन्दोलनों का ऐतिहासिक परम्पराओं के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सके।[3]

---

1. एम० ए० बुच, राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ मिलिटेन्ट नेशनलिज्म, गुड कम्पेनियन्स, बड़ौदा 1940 पृ० 45.
2. तिलक का 13 दिसम्बर 1919 को 'मराठा' को लिखा गया पत्र।
3. एम० एन० राय—India in Transition में पृ० 14.

तिलक ने राष्ट्रवाद को एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक धारणा बताया। उन्होंने कहा कि प्राचीनकाल में आदिम जातियों के मन में अपने कबीले के प्रति जो भक्ति रहती थी, उसी का आधुनिक नाम राष्ट्रवाद है। इस राष्ट्रवाद का सम्बन्ध तीव्र संवेगों और अनुभूतियों से होता है। पहले जो आत्मिक प्रभाव और लगाव एक क्षेत्र विशेष तक सीमित थे वे अब राष्ट्रवाद के अन्तर्गत सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त हो गए है, यही कारण है कि आज राष्ट्रवाद की भावना किसी क्षेत्र विशेष के प्रति नहीं वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति अनुभव की जाती है। जो राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता पर आधारित होता है वही सच्चा और स्वस्थ्य राष्ट्रवाद है।[1] तिलक की मान्यता थी कि विभिन्न विचारधाराओं जाति भेदो, अस्वस्थ मत मतान्तरों आदि के कारण देश में राष्ट्रीयता की भावना उस तेजी से नहीं पनप सकती जिस तेजी से यह समान भाषा, समान धर्म और समान संस्कृति वाले देश में पनप सकती है। इसलिए उन्होंने भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक तत्वों पर बराबर बल दिया। ये तत्व प्राचीन काल से ही भारत में विद्यमान थे पर अब आवश्यकता उन्हें फिर से जगाने और प्राप्त करने की थी।

तिलक के जीवनीकार रामगोपाल ने तिलक की राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय एकता की भावना को व्यक्त किया—''तिलक के प्रत्येक काम और प्रत्येक भाषण में एकता की भावना सर्वोपरि रहती थी, चाहे वह धार्मिक भाषण हो चाहे राजनीतिक, सामाजिक हो या कोई अन्य। वे जनता की राजनीतिक चेतना को ही नहीं वरन् गत और अनागत के संयोग से जनता की आत्मा को भी जानना चाहते थे समाज सुधार आन्दोलन से अलग होने के फलस्वरूप उन्होंने पुराणपन्थी और धार्मिक भारत को जनतान्त्रिक राजनीति के पथ पर लाने के लिए विश्वस्त और अधिकारी नेता की अनोखी भूमिका

---

1. वी० पी० वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, हास्पिटल रोड आगरा-3-1971-पृ० 253.

निभाई। अपनी इस स्थिति के कारण वे नई राजनीतिक भावना का समन्वय ऐतिहासिक प्राचीनता की भावना तथा परम्परा से करने में सफल हुए।''[1] तिलक ने यह भी बताया कि भारत में किस प्रकार एकता लाई जा सकती है। उन्होंने कहा, ''ये विभिन्न पन्थ वैदिक धर्म की शाखाएँ, प्रशाखाएं है। यदि यह बात ध्यान में रखी जाए और हम विभिन्न मतों के बीच एकता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हों तो यह एक महान शक्ति बन सकती है। जब तक आपके बीच भेद है, और आप विभाजित है, जब तक एक मत दूसरे मत ने सामंजस्य तथा एकता का अनुभव नहीं करता, आप हिन्दुओं के रूप में आगे नहीं बढ़ सकते।''[2]

तिलक ने सक्रिय राजनीति में अपनी वापसी की सूचना 4 जून 1899 को 'केसरी' में प्रकाशित 'पुनश्च हरि ओम्' शीषर्क अग्रलेख के माध्यम से दी।[3] इसमें उन्होंने एकता के लिए जोरदार अपील की : ''हम देखते हैं कि महामारी (प्लेग) में प्रकोप और सरकार के कोप के कारण हमारी सारी गतिविधियां ठप्प पड़ गई है। अगर हमें फिर से उन्हें चालू करना है, तो पहले हमें अपने मतभेद को पाटकर एकता लानी होगी। क्या पिछले दो वर्षों के अनुभव से हमारी आँखे नहीं खुल सकती? दोनों राजनीतिक दल इस बात पर सहमत है कि हमें अंग्रेजी सरकार से किन अधिकारों को लेना है। यदि यह सत्य है तो नरम और गरम विचारों की चर्चा ही बेकार है। सरकार ने पहले से ही हमारे वाक् स्वतंत्रता पर रोक लगा दी है। अत: हम सबको गलत सन्देह और मतभेद पैदा करके परस्पर एक दूसरे को अलग नहीं रखना चाहए।[4]

---

1. रामगोपाल : लोकमान्य तिलक, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई 1965 पृ० 112.
2. रामगोपाल : वही पृ० 113.
3. तिलक का 4 जून 1899 को केसरी में प्रकाशित एक लेख, पुनश्च हरि ओम' शीर्षक में।
4. तिलक का 14 जून 1899 को केसरी में प्रकाशित एक लेख, पुनश्च हरि होम शीर्षक से।

गणपति तथा शिवाजी उत्सव—तिलक ने राष्ट्रवाद के विकास में स्र्वाजनिक उत्सवों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। राष्ट्रीयता के आवेश को आध्यात्मिक रंग देने के लिए उन्होंने गणपति उत्सव तथा शिवाजी उत्सव का आयोजन किया। गणपति उत्सव द्वारा उन्होंने एक धार्मिक उत्सव को सामाजिक एवं राजनीतिक अर्थ दिया तथा शिवाजी उत्सव द्वारा राष्ट्रीय भावनाओं को उभारने और संगठित करने का काम किया। उत्सवों का दोहरा महत्व है—एक ओर तो इनके माध्यम से एकता की भावना अभिव्यक्त होती है और दूसरी ओर उत्सवों में भाग लेने वाले व्यक्ति यह अनुभव करने लगते है कि उनके संगठन और उनकी एकता को किसी श्रेष्ठतर कार्य में लगाया जा सकता है। राष्ट्रीय उत्सव राष्ट्रगान, राष्ट्रध्वज आदि देशवासियों के संवेगों और मानों में तीव्रता लाते है तथा उनकी राष्ट्रवादी भावना को जाग्रत करते है इससे सांस्कृतिक अभिवृद्धि होती है और समूह राष्ट्रवाद का निर्माण होता है।[1]

गणपति उत्सव को सार्वजनिक रूप से मनाये जाने का आयोजन हिन्दू मुस्लिम दंगों के पीछे प्रारम्भ हुआ था और मुसलमानों के मुहर्रमों के उत्सवों के आयोजन से हिन्दुओं को अलग करने का एक प्रयत्न था।[2] तिलक गणपति उत्सव को सार्वजनिक रूप देना चाहते थे जिससे मुहर्रम का आकर्पण कम हो, और हिन्दू लोग उसमें न शामिल हो। गणेश विद्या के प्रतीक है और सारी कठिइयों को दूर करने वाले है। हर शुभ अवसर में उनकी पूजा की जाती है। अत: तिलक को गणपति जनप्रिय देवता मिले। गणपति उत्सव की योजना कुछ मुसलमानों के हिन्दू विरोधी कार्यों तथा सरकार द्वारा उनके पक्षपात के विरोध में बनाई गई। इससे जनता को तुरन्त आकर्षित किया और सामाजिक एकता और राजनैतिक जागृति का एक महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हुयी।

---

1. वी० पी० वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशन एवं विक्रेता, हास्पिटल रोड, आगरा 3, 1971 पृ० 293.
2. टी० वी० पर्वते : बाल गंगाधर तिलक, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा, 1968. पृ० 122

सुधारकों ने गणपति पूजा की हंसी उड़ाई, क्योंकि उसकी कार्यविधि धार्मिक त्योहारों का अनुकरण थी। **तिलक ने इसके आलोचकों को उत्तर देते हुए कहा :** "जो यह कहते है कि गणपति की झांकियां मुसलमानों के ताजियों की नकल है, उन्होंने आषाढ़ और कार्तिक की एकादशी की भजन मण्डलियों को नहीं देखा है लेजिम का खेल, नगाड़ों की गड़गड़ाहट और इसी प्रकार के अन्य कार्य प्राय: हर मेले में होते है। पिछले दो तीन सौ वर्षों से बहुत से हिन्दू मुहर्रम के अवसर पर मुसलमान पीरो की मनोनी मानते रहे है। कारण हम हर धर्म का मान करते है। लेकिन मुसलमान पुराने मेलजोल को छोड़कर, बदमाशों के बहकावे में आकर हिन्दू साधुओं को नियमित रूप से तंग करने लगे। इससे भेदभाव उत्पन्न होना अनिवार्य ही था।"[1]

तिलक ने 'केसरी' के द्वारा और अपने भाषणों से सारे महाराष्ट्र में उसका प्रचार भी किया। प्राचीन यूनान देश के ओलम्पिक त्यौहार और अन्य देशों के राष्ट्रीय पर्वो का उदाहरण देते हुए उन्होंने जोरदार शब्दों में जनता से अनुरोध किया कि वह गणपति उत्सव में पूरा सहयोग दे। यह उत्सव शुरू से ही बिना जात पात के भेदभाव के मनाया जाता था।[2]

तिलक ने कहा, "धार्मिक विषयों का चिन्तन और पूजा तो एकान्त में ही सम्भव है, किन्तु जनता को पुनर्जाग्रत करने के लिए कुछ प्रदर्शन आवश्यक है। इसी राष्ट्रीय भाषा के कारण यह उत्सव केवल पारिवारिक त्यौहार न रहकर शीघ्र ही सार्वजनिक पर्व बन गया। यह परिवर्तन ध्यान देने योग्य है, क्योंकि हिन्दू धर्म में पूजा अधिकतर वैयक्तिक या पारिवारिक रूप में होती है—ईसाई धर्म या इस्लाम की भांति हिन्दुओं में सामूहिक रूप से पूजा नहीं होती, किन्तु राष्ट्रीयता की भावना का विकास होने से गणपति उत्सव शीघ्र ही सामूहिक रूप पा गया।"[3]

---

1. एन० जी० जोग : वही, पृ० 50.
2. प्रधान तथा भागवत : लोकमान्य तिलक : ए० बायोग्राफी, जैको पब्लिशिंग हाउस, बम्बई 1959, पृ० 181.
3. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग 1969 पृ० 50 51.

यद्यपि इस पर्व का उद्देश्य सामाजिक एकता और पुनरूत्थान था, पर इससे राजनैतिक जागृति में भी बड़ी सहायता मिली। तिलक ने इसको कभी छिपाने का प्रयत्न भी नहीं किया : "जब ईसाई धर्मोपदेशक अपने भाषणों में राजनैतिक विषयों की चर्चा कर सकते है तो कोई कारण नहीं कि इस उत्सव में मेले वाले भी देश की राजनैतिक परिस्थितियों की चर्चा न करे। यदि उत्सव में कुछ गीत अन्य विषयों के गाए जाते हैं तो इसमें कोई बुराई नहीं। इस धार्मिक पर्व को इसी कारण केवल राजनैतिक प्रचार का बहाना बताना अनुचित है।"[1]

तिलक के विरोधियों ने इन पर्वो को केवल सरकार विरोधी प्रचार का साधन बताया था। **'इंडियन अनरेस्ट' में वैलेण्टाइन चिरोल ने लिखा:** "इन उत्सवों में धार्मिक गीत गाए जाते है और नाटक खेले जाते है जिनमें पौराणिक आख्यानों का उपयोग विदेशियों-मलेच्छों के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। 'म्लेच्छ' शब्द का व्यवहार यूरोपियों और मुसलमानों के लिए होता है। इस पर्व के जुलूस आदि मुसलमानों और पुलिस के साथ झगड़े करने की दृष्टि से ही निकाले जाते है। इन झगड़ों के कारण जो अदालती कार्रवाही होती है, उसका उपयोग भी उत्तेजक भाषणों के लिए होता है। गणपति उत्सव प्रारम्भ होने के साथ ही तिलक का प्रचार क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है।"[2]

शिवाजी उत्सव का आरम्भ 1896 में हुआ। जहाँ गणपति पौराणिक देवता थे वहाँ मराठा साम्राज्य के संस्थापक शिवाजी ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इस उत्सव का उद्देश्य भारत के नवयुवकों को शिवाजी के पद चिह्नों, पर चलने के लिए प्रेरित करना था, जिससे भारत की राजनीतिक दासता का

---

1. एन० जी० जोग, वही, पृ० 51.
2. टी० वी० पर्वते : बाल गंगाधर तिलक, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा 1968, पृ० 130.

अन्त किया जा सके।[1] 14 जून 1897 में केसरी में नवयुवकों को शिवाजी के चरित्र से प्रेरणा प्राप्त करने का उपदेश देते हुए तिलक ने कहा था, ''शिवाजी ने अच्छे उद्देश्य से दूसरों, के लाभ के लिए अफजलखाँ की हत्या की थी। उसी प्रकार हमारे मकान में चोर घुस जाएँ और हममें उन्हें भगाने की ताकत न हो तो हमें नि:संकोच उन्हें बन्द कर जिन्दा जला देना चाहिए। भगवान ने भारत के राज्य का पट्टा ताम्रपत्र पर खोदकर म्लेच्छों के नाम नहीं कर दिया है।----कुएँ में मेढ़क के समान अपनी दृष्टि को संकुचित मत करो। दण्ड विधान के घेरे से बाहर आ जाओ, 'भगवत् गीता' की उच्चतम भूमि में प्रवेश करो और तुम महापुरूषों के कार्यो पर विचार करो।''[2] आगे उन्होंने कहा ''भाट की तरह गुनगान करने से स्वतन्त्रता नहीं मिल जायेगी। स्वतन्त्रता के लिए शिवाजी व बाजी की भांति साहसी कार्य करने पड़ेगें।''[3]

तिलक को शिवाजी उत्सव का विचार रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई में एक पारसी विद्वान आर० पी० करकेरिया द्वारा पढ़े गए एक लेख से प्राप्त हुआ था। यह लेख शिवाजी और उनके गढ़ों पर था। पहले तिलक के मन में केवल उन गढ़ो (रायगढ़ में शिवाजी की समाधि) की मरम्मत का ही विचार था, किन्तु बाद में वह इस महान योद्धा के नाम से सम्बद्ध एक राजनैतिक उत्सव के विषय में भी सोचने लगे।[4] **'मराठा' में उन्होंने लिखा;** ''वीर पूजा मानव का स्वभाव है और अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं को मूर्त करने के लिए एक भारतीय महाबीर के आदर्श की हमे आवश्यकता थी। इसके लिए शिवाजी से उत्तम चरित्र मिलना असम्भव था। हम अकबर या भारतीय इतिहास के अन्य चरित्र की याद में उत्सव आरम्भ करने के विरुद्ध नहीं। इनका भी अपना एक महत्व होगा,

---

1. रामगोपाल : भारतीय राजनीति, पृ० 134.
2. 14 जून 1897 में केसरी में लिखा.
3. रामगोपाल : भारतीय राजनीति, पृ० 134.
4. एन० जी० जोग : आधुनिक भारत के निर्माता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, 1969, पृ० 52.

किन्तु शिवाजी का नाम सारे देश के लिए एक विशिष्ट महत्व लिए हुए हैं और हर देशवासी का यह कर्त्तव्य है कि वह इस चरित्र को विस्मृत और विकृत न होने दे। हर महापुरूष, चाहे वह भारत का हो या यूरोप का, अपने युग के अनुकूल ही कार्य करता है। यह सिद्धान्त यदि हम मान ले तो हमें शिवाजी के जीवन में कोई भी कार्य ऐसा नहीं मिलेगा जिसकी हम निन्दा कर सके। शिवाजी के हृदय में स्वतन्त्रता की जो भावना आरम्भ से अन्त तक थी, उसी भावना के कारण वह राष्ट्र के आदर्श माने जाते हैं।''[1]

तिलक ने अंग्रेज पत्रों के इस आरोप का खण्डन किया कि यह पर्व केवल मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं को भड़काने के लिए आरम्भ किया गया है। उन्होंने सिद्ध किया कि शिवाजी मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं का सदा आदर करते थे और उनके साथियों में अनेक ऐसे मुसलमान भी थे जिन्होंने मुगलों के विरुद्ध उनका साथ दिया था। उन्होंने उदाहरण स्वरूप बताया कि ब्रिटेन में नेतसन की पूजा होती है और फ्रांस में नेपोलियन की, फिर भी इससे दोनों देशों में कोई द्वेष नहीं है।[2] अतः उन्होंने मुसलमानो को आश्वस्त किया : ''शिवाजी उत्सव का उद्देश्य यह कतई नहीं कि आपका परित्याग या किसी तरह से आपकों तंग किया जाए। अब समाज बदल गया है और हिन्दू मुसलमान, दोनों की दशा एक ही है। अतः ऐसी दशा में क्या हम दोनों शिवाजी के महान चरित्र से प्रेरणा नहीं ले सकते?''[3]

तिलक व्यक्तिगत रूप सें हिन्दू धर्म के अनुयायी थे किन्तु राजनीति में उनका दृष्टिकोण व्यापक रहा। जकारिया का आरोप है कि ''तिलक हिन्दुओं की मुस्लिम विरोधी बदले की भावना के

---

1. एन० जी योग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, 1969, पृ० 52 53
2. एन० जी० जोग : वही, पृ० 53.
3. एन० जी० जोग : वही, पृ० 53.

प्रतिनिधि थे।''[1] **रजनी पामदत्त के अनुसार :** ''तिलक ने राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ हिन्दुत्व भावना का सम्मिश्रण कर दिया था और इसलिए मुसलमानों ने राष्ट्रीय आन्दोलन से विमुखता ग्रहण की।''[2] वेलेन्टाइन शिरोल ने भी तिलक को अति परम्परावादी बताते हुए मुस्लिम विरोधी सिद्ध करने की चेष्टा की।

तिलक एक महान राष्ट्रवादी विचारक और देशभक्त थे जिनके ह्रदय में मुसलमानों के प्रति या अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति कोई द्वेषभाव नहीं था। उनका अपराध केवल यही था कि वे एक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ थे जो अन्याय के आगे सिर नहीं झुका सकते थे, और उन्हें सरकार की इस चाल से घृणा थी कि वह हिन्दुओं के हितों पर कुठाराघात करते हुए मुसलमानों का पक्ष ले तथा हिन्दूओं के विरुद्ध उन्हें उकसाये। हिन्दू मुस्लिम द्वेष के विषय में तिलक ने अपने विचार स्पष्ट करते हुये लिखा कि, ''सरकार हिन्दुओं का पक्षपात करेगी तो मुसलमान क्षुब्ध होंगे, और यदि वह मुसलमानों का पक्ष लेगी तो हिन्दू उत्तेजित होंगे ओर इसी उत्तेजना से दंगे आरम्भ होंगे।''[3] अत: तिलक ने सरकार से अपील की कि वह दोनों सम्प्रदायों के बीच निष्पक्षता बरते और उनके द्वेष को समाप्त करे : ''यदि कोई कट्टरपथी हिन्दू मुसलमानं के क्षेत्र में जैकर कसाई के हाथों से एक गाय को बचाने का प्रयत्न करता है तो वह निश्चय ही दण्ड का भागी है। इसी प्रकार यदि कोई मुसलमान कहे कि गणेश चतुर्थी के अवसर पर निकलनेवाले भक्तों के जुलूस से उसके नमाज में बाधा पड़ती है तो उसे समझना पड़ेगा कि यह अनुचित है। हिन्दू मुस्लिम एकता का उपदेश देते समय (बम्बई के

---

1. Zacharia : Renascent India P.-121.
2 R. Pam Dutt : India Today : P. 383
3. तिलक का 1893 में केसरी में लिखा गया लेख।

गवर्नर) लार्ड हैरिस को अपने अधिकारियों को आदेश देना चाहिए कि वे दोनों सम्प्रदायों के बीच निष्पक्ष भाव रखे और एक को दूसरे के विरुद्ध भड़काने की चेष्टा न करे।''[1]

तिलक की राष्ट्रवादी भावनाओं की प्रशंसा, जिन्ना, असांरी और हसन इमाम ने की थी। शैकत अली ने लिखा—मैं पुन: सौंवा बार कहना चाहता हूँ कि मुहम्मद अली और मैं तिलक के पार्टी के थे और आज भी है।''[2] तिलक के ही विवेकपूर्ण परामर्श के फलस्वरूप 1916 का लखनऊ समझौता सम्पादित हो सका। तिलक ने ही मुसलमानों के खिलाफत आन्दोलन में सहयोग का प्रस्ताव किया था। अली बन्दुओं की मुक्ति का प्रस्ताव भी कांग्रेस में तिलक ने ही किया था।[3] अत: व्यक्तिगत जीवन में हिन्दू प्रिय होते हुए भी और अंशत: पुनरुत्थानवादी होने पर भी तिलक को मुसलमानों या ईसाइयों से कोई द्वेषभाव नहीं था तथा एक राजनीतिक नेता की हैसियत से राष्ट्रीय मुक्ति के लिए उन्होंने सार्वजनिक नीति अंगीकार की थी।[4]

तिलक राजनीतिक राष्ट्रवाद के विचार के साथ-साथआर्थिक राष्ट्रवाद के भी समर्थक थे। दादाभाई नौरोजी, विलियम डिम्बी, गोखले लालालाजपत राय के समान तिलक ने अंग्रेज द्वारा भारत के आर्थिक शोषण सम्बन्धी निर्गम सिद्धान्त का समर्थन किया।[5] तिलक ने केसरी में अपने लेखों द्वारा यह स्पष्ट किया कि ''भारत का कच्चा माल विदेशों से पक्का बनकर जब लौटता है तो भारत की इस

---

1. एन० जी० योग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, 1969, पृ०
2. एम० पी० बापत; Reminiscences of Tilak P.576.
3. पुरुषोत्तम नागर : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1980. पृ० 197.
4. पुरूषोत्तम नागर : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1980, पृ० 197.
5. एम० एन० राय : India in Transition P 185.

प्रकार लूट की जाती है और देश की पूँजी को किस तरह इंग्लैण्ड पहुँचा दिया जाता है। भारत में जो स्वदेशी आन्दोलन चला वह 'आर्थिक दृष्टि से देश के प्रारम्भिक पूँजीवाद की वृद्धि और विस्तार का आन्दोलन था।'[1] तिलक ने स्वीकार किया कि जब तक देश की राजनीतिक शक्ति विदेशी हुकूमत के हाथ में है तब तक देशी उद्योग-धन्धों को संरक्षण मिलना सम्भव नहीं है, लेकिन जनता स्वयं पहल करके संरक्षण की भावना को प्रोत्साहन दे सकती है। **1907 में इलाहाबाद में अपने एक भाषण में तिलक ने कहा कि,** ''हम विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करके अपने ढंग का संरक्षणार्थ आयात कर लगा सकते है।''[2] तिलक ने अपने लेखों में स्वदेशी आन्दोलन के आध्यात्मिक, राजनीतिक और आर्थिक सभी पहलुओं पर जोर दिया और साथ ही तत्कालीन शिक्षा पद्धति पर भी प्रहार किया जो भारतीयों को कोई व्यवहारिक ज्ञान नहीं देती थी तथा देश के आर्थिक पतन की ओर से गुमराह रखती थी।[3]

राजनीतिक उग्रवाद और आक्रमक राष्ट्रवाद— तिलक संकीर्ण राष्ट्रवादी नहीं थे। अपने संस्कृत पांडित्य के कारण वेदान्त के गूढ़ सहस्यों में उनकी विशेपरूचि थी। वेदान्त की मानव एकता की धारणा को राष्ट्रवाद के माध्यम से प्राप्त कर विश्वबन्धुत्व की स्थापना तिलक का अन्तिम ध्येय था। वे अन्तर्राष्ट्रवाद को राष्ट्रवाद का ही उन्नत रूप मानते थे। तिलक का राष्ट्रवाद बड़ा उग्र और तेजस्वी था तथा राजनीतिक क्षेत्रों में उन्हें उग्रवादी राजनीति तथा राष्ट्रीयता का अग्रदूत माना जाता है।[4] तिलक ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी निरंकुश नीति को सहन नहीं कर सके। उन्होंने लार्ड कर्जन के

---

1. वी० पी० वर्मा-आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा, 1971, पृ० 202.
2. वी० पी० वर्मा, वही, पृ० 202.
3. वी० पी० वर्मा, वही, पृ० 202.
4. डी० वी० तहमानकर : लोकमान्य तिलक : फादर ऑफ इण्डियन अनरेस्ट एण्ड दी मेकर ऑफ मोईन इण्डिया, जान मरे, लन्दन, 1956 पृ० 129.

निरंकुश कार्यों की 'केसरी' में बड़ी कठोर आलोचना प्रकाशित की। 15 मार्च, 1904 को उन्होंने 'केसरी' में सरकार की नयी शिक्षा नीति लेख लिखा। उनका विचार था कि नयी शिक्षा नीति से देश की शिक्षा के विकास में बाधा पड़ेगी। 5 अप्रैल 1904 को केसरी में उन्होंने कहा कि कर्जन योग्य अध्यवसायी तथा चतुर है किन्तु वह अपनी सम्पूर्ण बुद्धिमत्ता तथा कूटनीति का भारतीयों की दासता को स्थायी बनाने के उद्देश्य के लिए प्रयोग कर रहा है। 21 फरवरी, 1905 को तिलक ने कर्जन के उन आरोपों की तीखी आलोचना की जो उसने अपने दीक्षान्त भाषण में भारतवासियों के विरुद्ध लगाये थे। कर्जन 'कार्यकुशलता' के आदर्श का पुजारी था। इस कारण वह अनेक ऐसे कार्य कर बैठा जिन्होंने उसे जनता में अप्रयि बना दिया।[1] 1905 में बंगाल विभाजन के अवसर पर तिलक को उग्र राष्ट्रवाद का विगुल फूँकने का स्वर्ण अवसर मिला जिसका उपयोग उन्होंने राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने के लिए किया। Dr. •Zacharia . "The Work Purpose and effect of the measuves was Machivaellian.[2]

बंग भंग की घटना के बाद ही 'लाल, बाल, पाल' भारत में उग्र राष्ट्रीयता की त्रिमूर्ति बन गए। पंजाब, बंगाल और महाराष्ट्र संगठित रूप में सरकार की नीतियों का उग्र रूप से विरोध करने लगे।[3]

1905 के बंगभंग के सारा देश दु:खी था और बंगाल के हर सम्प्रदाय और तबके लोगों ने इसका जोरदार विरोध किया। तिलक ने बंगाल के इस जनजागरण का स्वागत किया और बहिष्कार के लिए राष्ट्र को तैयार करने में जुट गए। उन्हें इस विभाजन की बुराई में भी एक भलाई दिखी, क्योंकि इसके कारण देश में एकता की लहर दौड़ गई। तिलक ने 'स्वराज' का मंत्र फूँका। स्वराज्य प्राप्ति के लिए

---

1. वी० पी० वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता आगरा-3 1971, पृ० 258.
2. Zacharia : Renascent India P. 124.
3. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग 1969 पृ० 110.

तिलक तथा उनके उग्रवादी साथियों ने चार बातों पर जोर दिया[1] (1) स्वदेशी, (2) बहिष्कार, (3) राष्ट्रीय शिक्षा, (4) निष्क्रिय प्रतिरोध। यह कार्य नव राष्ट्रीय दल के माध्यम से किया जाने लगा जिसका मुख्य आधार तिलक थे। 1905 से 1909 तक इस दल ने राष्ट्रीय शिक्षा, दलित वर्ग उत्थान, राष्ट्रीय पत्रों की स्थापना आदि के विभिन्न आन्दोलन चलाए। तिलक ने अपने प्रयासों से कांग्रेस को बहुत कुछ एक जन आन्दोलन में परिष्ठि किया और स्वाधीनता संग्राम केवल शिक्षित वर्ग तक सीमित नहीं रहा, बल्कि बच्चे-बच्चे की जबान पर यह नारा गूंज गया ''स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे।''[2]

1907 के सूरत विच्छेद से पूर्व तिलक ने अपने एक भाषण में राजनीतिक उग्रता का परिचय देते हुए कहा—''हमरा उद्देश्य स्वशासन है और इसे यथा सम्भव शीघ्र ही प्राप्त करना चाहिए। हमारा राष्ट्र आंतकवादी दमन के लिए ही नहीं है। ''आप लोग भीरू और कायर न बनें। जब आप स्वदेशी को स्वीकार करते है तो आपको विदेशी का बहिष्कार करना होगा। हमारा उद्देश्य पुर्ननिर्माण है, हमारा स्वराज्य का आदर्श विशिष्ट लक्ष्य है जिसे जन समुदाय समझे। स्वराज्य में जनता का शासन जनता के लिए होगा। उदारपंथियों, डरिये मत। बहिष्कार दलित राष्ट्र के लिए एकमात्र साधन है। स्वराज्य और बहिष्कार के उपरान्त हमारा तीसरा आदर्श राष्ट्रीय शिक्षा है जिसके सम्बन्ध में पिछली कांग्रेस ने प्रस्ताव पास किया था।''[3]

तिलक ने अपने विचारों और कार्यों से सम्पूर्ण राष्ट्र में संघर्ष, बलिदान और कष्ट सहन करने की क्षमता का विकास कराया तथा लोगों को विश्वास दिलाया कि यदि स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा आदि राजनीतिक हथियारों का पूरे जोश से प्रयोग किया जाय तो स्वराज्य मिल कर रहेगा।[4]

---

1. एम० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, 1969, पृ० 106.
2. विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, वरुण दे : स्वतंत्रता संग्राम, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, 1972, पृ० 86.
3. डी० वी० तहमानकर, लोकमान्य तिलक :फादर ऑफ इण्डियन अनरेस्ट एण्ड दी मेकर ऑफ मार्डन इण्डिया, जान मटे, लन्दन 1956 पृ० 129.
4. विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी वरूण दे : स्वतंत्रता संग्राम, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डया, नई दिल्ली, 1972 पृ० 87.

शिक्षा के सम्बन्ध में तिलक नरमदलीय नेताओं के विचारों से सन्तुष्ट नहीं थे। जहाँ उदारवादियों ने भारतीयों को पाश्चात्य शिक्षा की ओर उन्मुख किाय वहाँ उग्रवादियों ने भारतीयों को सांस्कृतिक दृष्टि से गुलाम बनाने वाली पाश्चात्य शिक्षा का विरोध कर राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का समर्थन किया। तिलक ने इसी उद्देश्य से दक्षिण शिक्षा समाज (Deccam Education Society) की स्थापना की थी।[1] तिलक के अनुसार, ''पढ़ना-लिखना ही सीख लेना शिक्षा नहीं है, शिक्षा वही है जो हमें जीवकोपार्जन के योग्य बनाए, देश का सच्चा नागरिक बनाए, हमें हमारे पूर्वजों का ज्ञान और अनुभव दे।''[2] तिलक मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे और धार्मिक शिक्षा के भी पक्षपाती थे, जिससे अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता और आदर का भाव उत्पन्न हो सके। दिसम्बर 1905 में नागरी प्रचारिणी सभा के सम्मेलन में भाषण देते हुए उन्होंने कहा; ''एक सामान्य लिपि किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन का अंग है। यदि आप राष्ट्र में एकता लाना चाहते है, तो इसके लिए एक भाषा के व्यवहार से अधिक शक्तिशाली कोई वस्तु नहीं है।''[3] कलकत्ता अधिवेशन में राष्ट्रीय शिक्षा संबंधी प्रस्ताव में कहा गया कि ''राष्ट्रीय प्रणाली पर और राष्ट्रीय नियन्त्रण में देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये साहित्यिक, वैज्ञानिक और तकनीकि सभी प्रकार की नई शिक्षा प्रणाली गठित की जाय।''[4] अत: तिलक इस सोच पर कार्य कर रहे थे कि यदि देश के नागरिक शिक्षित होंगे तभी उनमें देश प्रेम एवं अपने राजनैतिक अधिकारों के प्रति चेतना का प्रचार प्रसार होगा। और वे जागरूक होंगे।

तिलक के अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध साध्य प्राप्ति का साधन है, अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं। निष्क्रिय प्रतिरोध किसी कानून का पालन करने से उत्पन्न लाभ तथा हानियों को संतुलित करने का

1. डी० पी० करमरकर, बाल गंगाधर तिलक : ए स्टडी, पापुलर बुक डिपो, बाम्बे, 1956, पृ० 582
2. डी० पी० करमरकर, वहीं, पृ० 582.
3. एन० जी० जोग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग 1969, पृ० 114.
4. एन० जी० जोग, वही, पृ० 123 124.

माध्यम है, कानून का पालन नहीं। यदि विवेक द्वारा कानून की अवज्ञा अधिक लाभप्रद प्रतीत हो तो कानून का पालन नहीं किया जाना चाहिए। लक्ष्य प्राप्ति का संकल्प ही निष्क्रिय प्रतिरोध है। यदि मार्ग में बाधाएँ उपस्थित हो रहीं हो तो संकल्प प्राप्ति के लिए उनसे संघर्ष करना चाहिए। प्रत्येक कानून संवैधानिक नहीं कहा जा सकता। न्याया तथा नैतिकता के विरुद्ध बनाये गये कानून संवैधानिक नहीं होते। निष्क्रिय प्रतिरोध न्याय संगत एवं उच्च नैतिक आदर्श होने के नाते पूर्णतया संवैधानिक है।[1]

स्वेदशी तथा बहिष्कार—जिस प्रकार उदारवादियों ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के साधन प्रार्थनाएँ, स्मृति पत्र और प्रतिनिधि मण्डल थे, उसी प्रकार उग्र राष्ट्रवादियों के साधन बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा थे। यद्यपि स्वदेशी का आरम्भ उदारवादियों, ने एक आर्थिक आन्दोलन के रूप में किया तथापि उग्र राष्ट्रवादियों, विशेषकर तिलक के हाथों में यह एक राजनीतिक अस्त्र बन गया।[2] पश्चिमी भारत में स्वदेशी और बहिष्कार का आन्दोलन तिलक के साथ पहुंचा। तिलक के नेतृत्व में पूना में बड़े पैमाने पर विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। उन्होंने स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी सभा के मुख्यांग के रूप में सहकारी भण्डार खोले।[3] तिलक ने केसरी में लिखा, ''हमारा राष्ट्र एक वृक्ष की भांति है। जिसका मूल तना स्वराज्य है और स्वदेशी तथा बहिष्कार अपनी शाखाएँ है।''[4] वास्तव में स्वदेशी ने ही स्वराज्य का रास्ता दिखाया। जो स्वदेशी आन्दोलन पहले केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित था, वह तिलक और उनके सहयोगियों के प्रयास से अब समस्त वस्तुओं में आत्मनिर्भरता और स्वालम्बन का सूचक बन गया।

---

1. राइटिंग एण्ड स्पीचेज ऑफ तिलक पृ० 263.
2. प्रधान तथा भागवत्, लोकमान्य तिलक : ओ० बायोग्राफी, जेको पब्लिशिंग हाउस, बम्बई 1959 पृ० 181.
3. विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी वरुण दे : स्वतन्त्रता संग्राम, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, दिल्ली, 1972 पृ० 87.
4. विपिन चन्द्र अमलेश त्रिपाठी वरुण दे, वही, पृ० 89.

तिकल ने स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलनों के राजनीतिक स्वरूप को छिपाने की कभी कोशिश नहीं की। उन्होंने लोगों से अपील की कि कुछ हानि सहकर भी वे स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करे और जहाँ स्वदेशी वस्तुएं प्राप्त न हो, वे ब्रिटेन को छोड़कर अन्य किसी भी देश की बनी वस्तुओं को काम में लाएं—"भारत में ब्रिटिश सरकार बिलकुल निरंकुश हो गई है। वह जनता की भावनाओं की तनिक भी परवाह नहीं करती। अत: इससे जनता में फैली उत्तेजना से लाभ उठाकर हमें चाहिए कि हम एक केन्द्रीय कार्यालय खोले जहां भारत की और ब्रिटेन को छोड़कर अन्य देशों की बनी वस्तुओं के बारे में जानकारी एकत्र की जाए और लोगों को सूचनाएं दी जाएं। इस कार्यालय की शाखाएँ सारे देश में खुलें और आन्दोलन को जीवित रखने के लिए भाषण दिए और सभा सम्मेलन किए जाएं तथा नए उद्योग भी खोले जाएं।"[1]

तिलक ने स्वदेशी का व्यापक अर्थ में प्रयोग शिक्षा, विचारों और जीवन पद्धति के रूप में किया। तिलक ने भारतीयों के मन और मस्तिष्क को स्वदेशी बना देना चाहा और इस प्रकार उनमें स्वाधीनता की भावना भर देने का प्रयास किया। इससे भारतीयों में अद्‌भुत आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन की भावना का संचार हुआ जो स्वदेशी देश-प्रेम का प्रतीक हो गया। स्वदेशी के लिए गणपति उत्सव तक का प्रयोग किया गया। मुसलमानों ने भी तिलक को स्वदेशी आन्दोलन में अपना सहयोग दिया।[2]

तिलक जो कहते थे, वह करते भी थे। वह स्वयं और घर में भी स्वदेशी वस्त्रों का ही इस्तेमाल करते थे। नियमानुसार वह अपने पत्रों के लिए भी स्वदेशी कागज का ही इस्तेमाल करते थे और जब स्वदेशी कागज उपलब्ध नहीं होता था, तब वह ब्रिटेन को छोड़कर किसी अन्य देश के बने कागज को खरीदते थे। उन्होंने कई उत्साही युवकों की कुटीर उद्योग आरम्भ करने में सहायता दी और 'पैसा

---

1. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग 1969, पृ० 109.

2. प्रधान तथा भागवत, लोकमान्य तिलक : ए बायोग्राफी, जैको पब्लिशिंग हाउस बम्बई 1959, पृ० 182.

कोष' आन्दोलन का भी पूरा-पूरा समर्थन किया।[1] यह कोष 1903 में भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए खोला गया था जिसमें हर व्यक्ति पीछे एक पैसा दान लिया जाता था। तिलक ने 1906 में बम्बई स्वदेशी सहकारी भण्डार की स्थापना में भी सहायता की।[2]

स्वदेशी की भांति बहिष्कार का भी मूल उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश सरकार के आर्थिक हितों पर दबाव डालकर उसे अपनी माँगे मनवाने के लिए विवश कर दिया जाए। जनता को समझाया गया कि ब्रिटिश सरकार की व्यवसायिक नीति भारत के आर्थिक विनाश के लिए उत्तरदायी है। तिलक ने बहिष्कार आन्दोलन के राजनीतिक स्वरूप को छिपाने की कोई चेष्टा नहीं की। उन्होंने बहिष्कार के आस्ति और नास्ति स्वीकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं पर जोर डाला और कहा कि सर्वप्रथम तो इससे स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन को बढ़वा मिलेगा और दूसरे ब्रिटिश सरकार भारतीयों की मांगे मानने के लिए विवश होगी।[3] बहिष्कार आन्दोलन का ब्रिटिश व्यापार पर कैसा असर पड़ा, इसका तत्कालीन कलकत्ता प्रवासी अंग्रेजों के मुखपत्र 'इंगलिशमैन' के इस विलाप से लगता है—

''बहुत सी प्रमुख मारवाड़ी फर्मो का व्यवसाय नष्ट हो गया है और यूरोपीय वस्तुओं का आयात करने वाली कई बड़ी-बड़ी कम्पनियों को या तो अपनी शाखाएँ बन्द कर देनी पड़ी है या थोड़े से व्यावसाय से ही सन्तुष्ट होना पड़ रहा है। गोदामों में माल जमा होता जा रहा है। दर्सल अब समय आ गया है जब बहिष्कार से व्यापार को कितनी हानि हुई है, यह स्पष्ट कर दिया जाए। बहिष्कार करने वालों को प्रोत्साहित करने का कोई प्रश्न ही नहीं, क्योंकि उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि ब्रिटिश जनता पर भारत सरकार को इस तथ्य के प्रति जागरूक कर

---

1. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग 1969, पृ० 109
2. एन० जी० जोग : वही, 110.
3. राइटिंग एण्ड स्पीचेज ऑफ तिलक पृ० 64 65.

दिया जाए कि बहिष्कार के रूप में ब्रिटिश राज के शत्रुओं के हाथ एक ऐसा हथियार आ गया है जो इस देश में ब्रिटिश हितों की गहरी चोट पहुंचाने में कारगर है। बहिष्कार के प्रति ढिलाई या सहमति की गई तो यह किसी सशस्त्र क्रान्ति से भी अधिक खतरनाक साबित होगा जब भारत के साथ स्थापित ब्रिटेन का सम्बन्ध निश्चय ही टूट जाएगा।''[1]

तिलक का विश्वास था कि स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन कारगर राजनीतिक हथियार साबित होगें, वह सम्भवतः उनके द्वारा निर्धारित समय से पहले ही सही निकला। बहिष्कार आन्दोलन की शक्ति की व्याख्या करते हुए पूना के एक भाषण में **तिलक ने कहा**—''तुम्हें जनना चाहिए कि तुम उस शक्ति का एक महान तत्व हो जिससे भारत में प्रशासन चलाया जाता है। ब्रिटिशशासन रूपी यह शक्तिशाली यन्त्र तुम्हारी सहायता के बिना नहीं चलाया जा सकता। अपनी इस दलित और उपेक्षित अवस्था में भी तुम्हें अपनी शक्ति की चेतना होनी चाहिए कि यदि तुम चाहों तो प्रशासन को असम्भव बना दो। तुम्ही डाक और तार का प्रबन्ध करते हो, तुम्ही भूमि का बन्दोबस्त करते हो, यद्यपि अधीनता की स्थिति में। तुम्हें विचार करना चाहिए कि क्या तुम इस प्रकार के श्रम की अपेक्षा अपने राष्ट्र के लिए कोई और अधिक उपयोगी कार्य नहीं कर सकते।''[2] तिलक ने आगे कहा, ''यदि तुममें सक्रिय प्रतिरोध की शक्ति नहीं है तो क्या तुम में आत्म त्याग और आत्म संयम की भी इतनी शक्ति नहीं है कि तुम अपने ही ऊपर शासन करने में विदेशी सरकार की सहायता न करो? यही बहिष्कार है और यही हमारे कहने का आशय है कि बहिष्कार एक राजनीतिक शस्त्र है। हम कर वसूल करने और शान्ति स्थापित रखने में सहायता नहीं करेंगे। हम सीमाओं से परे अथवा भारत के बाहर भारतीय रक्त और धन के साथ युद्ध करने में उनकी (अंग्रेजी की) सहायता नहीं करेंगे। हम

---

1. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली 1969 पृ० 110 111
2. ए० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली 1969 पृ० 112

न्याय प्रशासन के संचालन में उनको मदद नहीं देंगे। हमारे अपने न्यायालय होंगे, और जब समय आएगा, हम कर अदा नहीं करेंगे। क्या तुम अपने संगठित प्रयत्नों से ऐसा कर सकते हो? यदि तुम कर सकते हो तो तुम कल ही स्वतन्त्र हो जाओगे।"[1]

तिलक का यह बहिष्कार आन्दोलन गाँधीजी के सहयोग आन्दोलन की पूर्वसूचना थी। यदि तिलक ने स्वराज्य के प्रति लोगों में इतना उत्साह न पैंदा किया होता तो सम्भवत: देश गांधीवादी कार्यक्रम के लिए इतना तैयार न होता। लाला लाजपतराय के अनुसार तिलक दिल्ली कांग्रेस के समय से ही सत्याग्रह की बात सोचने लगे थे। जिसके तीन उद्देश्य थे—(1) भारतीयों की मोहावस्था समाप्त करना जिसके कारण उन्होंने अंग्रेजों को सर्वशक्तिमान रखा था, (2) देश के लिए त्याग, बलिदान और कष्ट सहन की भावना पैदा करके स्वतंत्रता के प्रति उत्कृष्ट प्रेम उत्पन्न करना, और (3) देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करना।[2] सत्याग्रह का विचार तिलक के दिलोदिमाग में मंडराता रहा और दसम्बर, 1906 में कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन के बाद वह फूट पड़ा जबकि 'नए दल के सिद्धान्तों' पर दिए गए अपने प्रसिद्ध भाषण में उन्होंने बहिष्कार के शक्तिशाली राजनीतिक हथियार मर प्रकाश डाला और अंग्रेजों से असहोयग की अपील की। तिलक ने 1906 में ही जिस असहयोग आन्दोलन का खाका खींचा था उसे ही लगभग 14 वर्ष बाद महात्मा गांधी ने चलाया।

स्वराज्य की धारणा— तिलक ने माण्डले जेल से लौटने पर स्वदेश का संदेश घर-घर तक पहुँचाने के लिए एक प्रभावी कार्यक्रम बनाया, इसके लिए 1916 में होमरूल लीग की स्थापना की, स्वराज्य की स्पष्ट शब्दों में व्याख्या की और इस बात के औचित्य को सिद्ध किया कि भारत को अतिलम्ब स्वराज्य दिया जाना चाहिए। तिलक ने स्वाराज्य की मांग को नैतिक, राजनैतिक और

---

1. एन० जी० जोग :वही, पृ० 112.
2. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली 1960 पृ० 111

सामाजिक सभी आधारों पर न्यायोचित ठहराया। **तिलक ने एक लेख में लीग के उद्देशेयों को स्पष्ट किया,** ''यह सभी मानते है कि ऐसी संस्था स्थापित करने का अब समय आ गया है, जो सारे देश में स्वशासन के लिए जनमत तैयार करके आन्दोलन करे। इतने बड़े उत्तरदायित्व को सम्हालने का अधिकार स्वभावत: कांग्रेस को ही था, किन्तु यह सभी मानते है कि कांग्रेस जैसी भारी भरकम संस्था को नए रास्ते पर मोड़ना और स्वशासन की योजना बनाकर उसके लिए आन्दोलन करने को तैयार करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। अत: यह आरम्भिक कार्य हो वस्तुत: किसी और को ही करना होगा। इसे अब टाला नहीं जा सकता। इसलिए लीग को पथप्रदर्शक संगठन मानना चाहिए, कोई पृथक संगठन बनाने का प्रयत्न नहीं।''[1]

लीग को लोकप्रिय बनाने के लिए तिलक ने विभिन्न स्थानों का दौरा किया तथा जगह-जगह भाषण दिए। लीग के लक्ष्य तथा उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—''होमरूल'' स्वशासन का मतलब केवल अपने घर का प्रबन्ध अपने हाथों में लेना है। यह अदृश्य सरकार को इसी तरह बरकरार रखते हुए दृश्य सरकार को बदलने का एक जरिया है। 'होमरूल स्वशासन की एक बहुत ही सरल परिभाषा, जिसे एक अनपढ़ किसान तक समझ सकता है, यह है कि ''किसी अंग्रेज को अपने देश इंग्लैण्ड में जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान मुझे अपने देश में प्राप्त होना चाहिए।''[2]

तिलक ने ब्रिटिश शासन से स्वराज्य प्राप्ति के सन्दर्भ में ब्रिटेन के सम्राट की स्थिति को ब्रह्म की तरह अपरिवर्तनशील माना और वास्तविक शासन को 'माया' की संज्ञा दी।[3] जिस प्रकार ब्रह्म की स्थिति को परिवर्तित नहीं किया जा सकता उसी प्रकार ब्रिटिश सम्राट को परिवर्तित करने की आवश्यकता नहीं है।

---

1. एन० जी० योग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, 1969 पृ० 165
2. एन० जी० योग : वही, पृ० 165 166.
3. डी० वी० तहमानकर : लोकमान्य तिलक : फादर ऑफ इण्डियन अनरेस्ट एण्ड दी मेकर ऑफ मॉडन इण्डिया, जॉन मरे, लन्दन, 1956 पृ० 232

माया के परिवर्तनकारी स्वरूप को शासन के परिवर्तनों के सदृश्य माना जा सकता है। शासन में परिवर्तन का अर्थ है ऐसी सरकार की स्थापना करे जो जनहित में कार्य करे। नौकरशाही के हाथों से शासन लेकर जनता के प्रतिनिधियों को सौंप दिया जाय। स्वराज का यही अर्थ है कि भारत के शासन पर नौकरशाही का नियंत्रण जनता को हस्तान्तिरण कर दिया जाय। जिस प्रकार से इंग्लैण्ड में सम्राट की स्थिति एक नाम मात्र के शासक की और समस्त कार्य मंत्रियों की सलाह पर होता है उसी तरह भारत में जन प्रतिनिधियों के हाथों में वास्तविक सत्ता होनी चाहिए।[1] तिलक ने स्पष्ट किया कि "स्वराज्य की मांग को देशद्रोह समझाना व्यर्थ है। यह सम्राट की सत्ता को चुनौती नहीं अपितु जनता से सम्बन्धित कार्यों पर जनता के नियन्त्रण की मांग है।"[2] तिलक ने यह भी व्यक्त किया कि "भारत में स्वशासन का अधिकार किसी भी दल को सौंपा जाय-चाहे उदारवादियों को अथवा उग्रवादियों को या पुलिस के सिपाही को ही यह अधिकार क्यों न दिया जाय उन्हें कोई आपत्ति नहीं। मूल प्रश्न स्वराज्य का है, अधिकारों का है।"

तिलक ने अप्रैल 1916 में स्वराज्य पर अहमदनगर में भाषण में कहा कि "स्वराज्य का अर्थ सम्राट के शासन का उन्मूलन करना और किसी देशी रियासत का शासन कायम करना नहीं है। हमें मन्दिर के देवताओं को नहीं हटाना है, केवल पुजारियों को बदलना है। सम्राट अपनी गोरी तथा काली प्रजा के बीच भेदभाव नहीं करते इसलिए नौकरशाही पुजारियों को बदलने से उनका अहित नहीं होगा। स्वराज्य का अर्थ यह नहीं है कि अंग्रेज सरकार के स्थान पर जर्मन सरकार को स्थापित कर दिया जाए। स्वराज्य से अभिप्राय केवल यह है कि भारत के आन्तरिक मामलों का संचालन और प्रबन्ध भारतवासियों के हाथों में हो। हम ब्रिटेन के राजा सम्राट को बनाए रखने में विश्वास करते

---

1. डी० वी० तहमानकर : लोकमान्य तिलक : फादर ऑफ इण्डियन अनरेस्ट एण्ड दी मेकर ऑफ मॉडन इण्डिया, जॉन मरे लन्दन, 1956 पृ० 262.
2. डी० वी० तहमानकर, वही, पृ० 263.

हैं।[1] लीग की इच्छा थी कि भारत की राजनीतिक मांगों के आधार पर संसद में एक विधेयक प्रस्तुत किया जाए और उसके लिए इंग्लैण्ड में आन्दोलन चलाया जाए।

1917 में श्रीमती एनी बेसन्ट की अध्यक्षता में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन ने मांटेग्यू घोषणा पर अपनी 'कृतज्ञता एवं सन्तोष' प्रकट किया और सरकार से अनुरोध किया कि ''भारत में उत्तरदायी सरकार स्थापित करने के सम्बन्ध में शीघ्र ही एक संसदीय अधिनियम बनाया जाय जिसमें पूर्ण स्वराज देने की अन्तिम तिथि भी निश्चित हो।''[2] लेकिन जब जुलाई 1918 में माँटफोर्ड रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो उनकी आशा पर पानी फिर गया। क्योंकि इस रिपोर्ट में औपनिवेशिक दर्जे की कोई चर्चा नहीं की गयी। प्रान्तों में केवल द्वैध शासन लागू करने की व्यवस्था थी और केन्द्रीय सरकरा को पहले की ही भांति निरंकुश और गैरजिम्मेदार रहने दिया गया। प्रान्तों में भी गवर्नरों को आरक्षण शक्तियां प्राप्त थी, जो जनता द्वारा निर्वाचित मन्त्रियों के ऊपर तलवार की भांति लटक रही थी।[3]

मॉण्टफोर्ड रिपोर्ट पर तिलक ने प्रतिक्रिया जाहिर की **'केसरी' में प्रकाशित लेख-'सुबह हुई, किन्तु सूर्य कहाँ?'** के शीपर्क में की। ''मॉण्टपोर्ड रिपोर्ट एक सुन्दर, अत्यन्त चातुर्यपूर्ण और कूटनीतकि दस्तावेज है। हम लोगों ने आठ आना स्वशासन की मांग की थी। लेकिन आठआने के बदले रिपोर्ट हमें एक आना उत्तरदायी सरकार ही देती हैं और कहती है कि यह आठआने के स्वशासन से अधिक मूल्यवान है। इस रिपोर्ट की सारी कुशलता इसकी भाषा शैली में है।[4] जिसमें हमें विश्वास कराने का प्रयत्न किया गया है कि उत्तरदायी सरकार का एक कौर हमारी पूर्ण स्वशासन की भूीख को मिटाने के लिए पर्याप्त है। हम सरकार से यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि हम एक आना

---

1. वी० पी० वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा, 1971 पृ० 216
2. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, दिल्ली 1969, पृ० 176
3. एन जी० जोग : वही, 176 177.
4. एन० जी० जोग : वही, 177

उत्तरदायी सरकार के लिए उसके आभारी है, किन्तु साथ ही हम चाहते है कि इस योजना में कांग्रेस लीग योजना की सभी बातें भी शामिल कर ली जाएं।''[1]

तिलक ने स्वराज्य की अपनी पूर्व धारणा अर्थात् पूर्ण स्वाधीनता की आकांक्षा का परित्याग नहीं किया था वरन् तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य का व्यवहारिक सुझाव दिया था। यह पूर्ण स्वधानिता की दिशा में एक पहला महत्वपूर्ण कदम था। होमरूल उनका तत्कालीन राजनीतिक लक्ष्य था, क्योंकि पूर्ण स्वाधीनता को वे उस समय व्यवहारिक राजनीतिक क्षेत्र से परे मानने के विचार से सम्भवत: सहमत हो गए थे। अपनी मृत्यु शैय्या में पड़े तिलक के अंतिम शब्द थे ''यदि स्वराज्य न मिला तो भारत समृद्ध नहीं हो सकता। स्वराज्य हमारे अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।''[2]

वास्तव में तिलक के हृदय में स्वराज्य के लिए जो तड़पन थी वह फिरोजशाह मेहता, बनर्जी आदि नेताओं में नहीं थी। तिलक लोकतांत्रिक स्वराज्य के समर्थक ते। तिलक के जीवनीकार टी० वी० पर्वने ने तिलक को लोकतांत्रिक स्वराज्य का प्रवर्तक माना क्योंकि तलिक तत्कालीन सम्पूर्ण शासन प्रणाली को ही बदल देना चाहते थे और कहते थे कि स्वराज्य का अर्थ केवल कुछ थोड़े से उच्च वेतन वाले पदों को प्राप्त कर लेना नहीं है वरन् एक ऐसी शासन व्यवस्था से है जिसमें शासन के सभी अधिकारी और कर्मचारी जनता के प्रति सचेत रहें तथा कार्यपालिका के अधिकारी और कर्मचारी स्वयं को जनता के प्रति उत्तरदायी समझें। तिलक के लिए स्वराज्य का आशय था कि अन्तिम सत्ता जनता के हाथ में हो। उनके लिए स्वराज्य का आधार यह विश्वास था कि राज्य का अस्तित्व जनगण के कल्याण और सुख के लिए है। पर्वते ने लिखा है कि तिलक का 'भारतीय क्रान्ति

---

1. एन० जी० जोग : वही, 177
2. रामगोपाल : लोक मान्य तिलक, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1965 पृ० 239

के जन्मदाता', 'आधुनिक भारत के निर्माता' आदि अनेक नामों से उल्लेख किया गया है और इन नामों में 'लोकतांत्रिक स्वराज्य के प्रतिपादक' अवश्य ही जुड़ जाना चाहिए क्योंकि लगभग अपने जीवन पर्यन्त उन्होंने जो प्रचार कार्य किया उसमें वे इस बात को बराबर दुहराते रहे थे। उनके लिए लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता समान उद्देशयीय थी।[1] पर्वते के ही अनुसार—"तिलक भारतीय स्वराज्य को लोकतान्त्रिक स्वराज्य के रूप में देखते थे और भारतीय स्वराज्य के युगदृष्टा की तरह उनकी यह धारणा बहुत अमूल्य थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि यह लोकतान्त्रिक स्वराज्य केवल जन जागृति , जनता की आत्म अभिव्यक्ति की शक्ति और उसके आत्म विश्वास से ही निर्मित हो सकेगा। वे कभी भी यह नहीं मानते थे कि आतंकवादी या सेना के नेता बिना जनता की सक्रिय सहानुभूति और समर्थन प्राप्त किए अकेले ही कभी भी भारत में स्थापित सरकार को उखाड़ सकेंगे। जन आन्दोलनों द्वारा अपने अधिकारों को बराबर जनता और उनकी माँग करने के लिए शक्ति का निर्माण करना तथा ऐसे आन्दोलनों द्वारा जनता की शिकायतें प्रस्तुत करना और उन्हें दूर करने की माँग करना ही उनका स्थायी कार्यक्रम था।

उनका ऐसा अनुमान था कि इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने से जो शक्ति प्राप्त होगी वही अंत में किसी अनुकूल राजनीतिक परिस्थिति में पूर्ण राजनीतिक स्वराज्य की प्राप्ति करा सकेगी।[2]

दुर्गादास ने तिलक के राजनीतिक दर्शन के बारे में कहा "तिलक की बहुमुखी प्रतिभा का सबसे प्रभावशाली पहलू था उनके विचारों की अधुनिकता। मैं अक्सर सोचना हूँ कि उनकी तीव्र दृष्टि ने दूर भविष्य तक देख लिया था। उन प्रारम्भिक दिनों में भी उनके मन में रूपरेखा थी—देश का संविधान तैयार करने के लिए संविधान सभा की, वयस्कों के लिए मताधिकार की, भाषा के आधार

---

1. टी० वी० पर्वते : बाल गंगाधर तिलक, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा, 1968, पृ० 290

2 टी० वी० पर्वते : बाल गंगाधर तिलक, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता आगरा 1968, पृ० 291

पर प्रान्तों के विभाजन की, देशव्यापी नशाबन्दी की, अल्पतम वेतन की गारण्टी के द्वारा श्रमिकों के हितों की सुरक्षा की और विशिष्ट उद्योगों के लिए लोक क्षेत्र की स्थापना की।''[1]

तिलक ने स्वराज्य को सामाजिक व्यवस्था का आधार बताया। उन्होंने कहा कि राष्ट्र की प्रगति का मूल स्वराज्य में ही निहित है स्वराज्य के अभाव में औद्योगिक प्रगति, राष्ट्रीय शिक्षा, सामाजिक सुधार आदि कुछ भी सम्भव नहीं है। यदि स्वराज्य मिल गया तो हमारे विभिन्न उद्देश्य सुगमतापूर्वक पूरे हो सकते है। स्वराज्य की धारणा को तिलक ने प्राकृतिक सिद्धान्तों पर आधारित किया। उन्होंने माना कि स्वराज्य व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है और अंग्रेजों द्वारा भारत पर अधिकार जमाए रखना दोषपूर्ण है। यह भारतीयों का परम कर्त्तव्य है कि वे स्वराज्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष करें।[2]

तिलक ने पत्रकारिता का सहारा लेकर जनता में चेतना फूँकी और उसे स्वराज्य के प्रति सचेत किया। ''राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्य अग्रणियों की तरह तिलक का भी यह विश्वस था कि राष्ट्रीयता के संदेश का प्रचार करने के लिए सबसे असरकारक माध्यम समाचार पत्र थे। जिन राष्ट्रीय नेताओं ने पत्रकारिता को अपनाया था वे अच्छी तरह जानते थे कि 'बगवल फैलाने वाले' कानून की अवहेलना करके वे क्या खतरे मोल ले रहे थे। तिलक ने केसरी नामक मराठी पत्र की स्थापना की, जो उनका सबसे सशक्त अस्त्र था। उनका अंग्रेजी साप्ताहिक 'मराठा' उसी का रूपान्तर मात्र था।[3] **तिलक ने 1891 में 'केसरी' में लिखा** कि ''जनमत एक ऐसी चीज होती है जिससे स्वच्छाचारी और तानाशाह भय खाते है, लेकिन ऐसा जनमत जहाँ उत्पन्न करने के लिए हमने कुछ नहीं किया है।

---

1. दुर्गादास : भारत कर्जन से नेहरू तक और उसके पश्चात्, रूपा पेपर बैंक. 1969 पृ० 93
2. दुर्गादास : वही, पृ० 95.
3. दुर्गादास : भारत कर्जन से नेहरू तक, रूपा पेपर वैग. 1969. पृ० 61

" दूसरे स्थान में उन्होंने कहा "शासक अत्याचारी हो जाते है क्योंकि जनता अपनी शक्ति नहीं जताती। अगर वह एक होकर ऐसा करे तो शासक उसके सामने शक्तिहीन हो जाएगे।"[1]

शान्ति सम्मेलन को ज्ञापन—प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर पेरिस में हुए शान्ति सम्मेलन के अध्यक्ष को उन्होंने एक ज्ञापन पेश किया था जिसमें उन्होंने लिखा कि सम्मेलन में सरकार द्वारा मनोनीत व्यक्ति (बीकानेर नरेश और एस० पी० सिन्हा) भारत का सही प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस ज्ञपन में तिलक ने एशिया और विश्व की राजनीति में भारत की महत्वपूर्ण राजनीतिक स्थिति का उल्लेख किया और भारत के लिए आत्म निर्णय के अधिकार की मांग की।[2] तिलक ने लिखा—"एशिया में और सम्पूर्ण विश्व में शान्ति की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि भारत को आन्तरिक रूप में स्वशासन प्राप्त होना चाहिए और उसे पूर्व में स्वतन्त्रता का गढ़ बनाया जाना चाहिए। जर्मनी के प्रभुत्व के खतरे से मानव जाति की मुक्ति के लिए युद्ध के बाद मेरे लिए यह अनुरोध करना आवश्यक हो गया है कि किसी भी समय राष्ट्र के ऊपर उसकी सहमति के बिना किसी अन्य राष्ट्र का शासन नहीं होना चाहिए, चाहे उसके ऊपर ट्रस्टीशिज के सिद्धान्त का आवरण ही क्यों न पड़ा हो। अत: भारत अपने जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में अपने लिए आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग करता है। अयोग्यता का तर्क जो साधारणत: अज्ञानियों अथवा निहित स्वार्थों द्वारा पेश किया जाता है, एकदम अमान्य और असत्य है, मेरा पूर्ण विश्वास है कि भारत की दरिद्रता, भौतिक, अधोगति, औद्योगिक पुनरोद्धार, आर्थिक विकास, तकनीकी एवं प्राथमिक शिक्षा आदि की समस्याओं तथा जाति प्रथा एवं परम्परा के नाजुक प्रश्नों का समाधान वे लोग कभी नहीं कर सकते जो पश्चिमी सभ्यता के अनन्य भक्त है। इन समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना तो केवल भारतीयों द्वारा ही

---

1. टी० वी० पर्वते : बाल गंगाधर तिलक, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा 1968. पृ० 290

2 वी० पी० वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा, 1971, पृ० 219.

किया जा सकता है।''[1] तिलक ने शान्ति सम्मेलन से यह अपील की कि राष्ट्रसंघ में भारत को प्रतिनिधित्व का वही अधिकार दिया जाए जो अन्य ब्रिटिश अधि राज्यों को प्राप्त हैं। तिलक का यह ज्ञपान ''भारत की परराष्ट्र नीति का पहला महत्वपूर्ण प्रलेख हैं। कहा जा सकता है कि यहीं से भारत की परराष्ट्र नीति का प्रारम्भ हुआ।''[2]

कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी का घोषणा पत्र—अमृतसर कांग्रेस ने, तिलक, गांधी आदि के विचारों को सम्मान देते हुए यह घोषित किया कि मोन्टफोर्ड सुधार यद्यपि अपर्याप्त, असन्तोषजनक और निराशाजनक है, लेकिन देश को उन्हें क्रियान्वित करने में अपना सहयोग देना चाहिए ताकि पूर्ण स्वराज्य को यथाशीघ्र स्थापना हो सके। तिलक ने अमृतसर कांग्रेस द्वारा पारित प्रस्ताव की भावना के अनुरूप कार्य शुरू किया और मोन्टफोर्ड सुधार योजना के अन्तर्गत स्थापित की जाने वाली विधान परिषदों के लिए चुनाव लड़ने हेतु 'कांग्रेस लोक तन्त्री दल' (कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी) की स्थापना की।[3] 20 अप्रैल 1920 को इस दल का घोषणापत्र जारी किया गया जिसमें मुख्यत: बाते थी— (1) कांग्रेस में आस्था (2) प्रजातन्त्र का प्रारम्भ (3) शिक्षा का प्रयास (4) मताधिकार का विस्तार (5) धार्मिक सहिष्णुता (6) राष्ट्रसंघ के निर्माण का स्वागत (7) 1919 के अधिनियम का बहिष्कार (8) शिक्षा आन्दोलन और संगठन का नारा (9) सामाजिक और धार्मिक न्याय प्रदान करना (10) श्रमिकों को उचित वेतन (11) रेलों का राष्ट्रीयकरण (12) नागरिक सेवा, एवं (13) भाषाई आधार पर प्रान्तों का गठन।

वास्तव में कांग्रेस डमोक्रोटिक पार्टी के घोपणा पत्र की यह कतिपय मुख्य बाते इस बात का संकेत देती है कि तिलक विधान परिपदों में कार्य को पूरा महत्व देते थे और इस बात से परिचित ते

---

1. वी० जी० वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा, 1971 पृ० 220.
2. वी० पी० वर्मा- वही, पृ० 220.
3. अवस्थी एवं अवस्थी : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन पृ० 274.

कि यदि निर्वाचन में भाग ने लेकर परिषदों का बहिष्कार किया गया तो परिषदों में सरकार समर्थक व्यक्ति ही मर जायेगें और इस प्रकार वह सरकार के पक्ष में नीतियों को भी प्रभावित करेंगे। जिससे जो सपना तिलक ने स्वराज्य के सबन्ध में देखा था वह अधूरा रह जायेगा तथा पूर्णता को कभी प्राप्त नहीं कर पायेगा।[1]

सामाजिक विचार—तिलक सामाजिक विचारों में सुधारवादी न होकर पुन: अभ्युदयवादी थे। वे रानाडे के विचारों के विपरीत भारतीय सभ्यता व संस्कृति के प्राचीन सफल सामाजिक प्रयोगों को वर्तमान भारत में पुन: स्थापित करने में विश्वास रखते थे। वे भारत के उदारवादियों के समाज सुधार की पाश्चात्य परम्परा का अनुसरण नहीं करना चाहते थे।[2] तिलक एक सच्चे जन नेता और राजनीतिक नेता थे, अत: यह स्वाभाविक था कि वे सामाजिक सुधारों की ओर ध्यान देते लेकिन उनका मार्ग तत्कालीन प्रबाह से भिन्न था। जहाँ तत्कालीन नेता सरकार से मिल जुलकर सुधार कानून बनवाने और सुधार करने के अनुगामी थे वहाँ तिलक सामाजिक सुधार को सरकार की ओर से लादना उपयुक्त नहीं मानते थे। उनका कहना था कि सामाजिक सुधार जनता की ओर से होने चाहिए और क्रमश: धीरे-धीरे विकसित होने चाहिए। उन्हें इसका क्षोभ था कि भारत की सम्भ्रान्त एवं शिक्षित पीढ़ी पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण द्वारा भारत की सभ्यता व संस्कृति को भौतिकवादी परम्परा का विस्तार भारत में नहीं चाहते थे।[3] तिलक अंग्रेजी भाषा व साहित्य के अध्ययन तथा पाश्चात्य राजनीतिक मान्यताओं के ग्रह्य पक्ष को अपनाने से मना नहीं करते थे। वे स्वयं दक्षिणी शिक्षा समिति, पूना के प्रमुख कर्त्ताधर्त्ता के रूप में अंग्रेजी भाषा के अध्ययन की अनिवार्यता का

---

1. अवस्थी एण्ड अवस्थी : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन पृ० 275
2. थियोडोर एल० शे० : दी लिगेसी ऑफ दी लोकमान्य, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1956, पृ० 63.
3. डी० वी० अथात्ये, दी लाइफ ऑफ लोकमान्य तिलक, जगतहितेच्छु प्रेस, पूना 1921, पृ० 54.

समर्थन करते रहे।[1] तिलक समाज सुधार से पहले राजनीतिक सुधार पर बल देते थे लेकिन वह कभी भी रूढ़िवादी नहीं थे वरन् अस्वस्थ पुरानी परिपाटियों को बदलने के पक्ष में थे। उनकी मान्यता थी कि परिवर्तन धीरे-धीरे सहमति से किये जाने चाहिए, किसी दबाव से नहीं। उनका विश्वास था कि सार्वजनिक शिक्षा ही समाज सुधार का सबसे उत्तम साधन है और इसके प्रसार में एक आदर्श व्यवहार सौ उपदेशों से अधिक प्रभावशाली होता है।[2]

समाज सुधार की दृष्टि से तिलक सामाजिक सुधारों को राजनीतिक सुधारों के बाद ही लाना चाहते थे। वे पहले स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे बाद में और कुछ। तिलक ने विशेषकर उन लोगों का विरोध किया, जो समाज सुधार का आधार वेद पुराणों में आधाररित मानते थे। उन्हेंने रा० गो० भांडारकर जैसे प्रकाण्ड विद्वान का भी विरोध किया—तर्क का तर्क से, मन्त्रों का मन्त्रों से जबाव देकर उनकी सभी बातों का खण्डन किया।[3] उन्होंने रानाडे द्वारा प्रस्तावित कतिपय सुधारों का समर्थन भी किया। उदाहरणार्थ वे इस बात से सहमत थे कि लड़कों का विवाह 16, 18, व 20 वर्ष के पहले न किया जाये तथा लड़कियों का 10, 12, या 14 वर्ष के पहले।[4]

तिलक ने सामाजिक सुधार से पूर्व राजनीतिक उन्नति और राष्ट्रीय जागरण का समर्थन किया। तिलक का कहना था कि ''सामाज सुधार और राष्ट्रीय चेतना में कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ भले लोग चाहते है कि राजनीतिक सुधार लागू होने से पहले सामाजिक सुधार हो जाना आवश्यक है। ये सुधार बर्मा में मौजूद है पर वहाँ धर्म , देश या देशी व्यापार के सम्बन्ध में भावनाओं का अभाव है। हमें वर्मा के समाज सुधार पसन्द है, पर वर्मा और श्रीलंका की परिस्थिति देखकर लगता है कि भारत

---

1. राम गोपाल, लोकमान्य तिलक, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1965, पृ० 26.
2. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार नई दिल्ली 1969-पृ० 28.
3. एन० जी० जोग : वही, पृ० 28.
4. पुरूषोत्तम नागर: आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1980पृ० 200

का औद्योगिक या राष्ट्रीय विकास के लिए समाज सुधार आवश्यक मानना गलत है। देश प्रेम, आपसी भेदभाव मिटाने की क्षमता, देश के लिए संयुक्त रूप से काम करने की इच्छा और आदत में गुण आवश्यक है। यदि हम भारत को दासता से निकालना चाहते है तो हमें इसी दिशा में चलना होगा।''[1]

तिलक राजनीतिक आन्दोलन और सामाजिक सुधारों को एक साथ मिलाने के पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था कि भारत जैसे देश में, जहाँ सामाजिक और धार्मिक वर्गों तथा अगणित भेदभावों का अस्तित्व है, यदि सामाजिक सुधारों को राजनीतिक आन्दोलनों के साथ जोड़ दिया गया तो ये भेदभाव राजनीतिक क्षेत्र में भी पनप जाएगें और तब रानीतिक मंच पर सम्पूर्ण भारत का एक शक्तिशाली संगठन नहीं बन पाएगा। यह एक ऐसी स्थिति होगी जिससे राष्ट्रीय जागरण को आघात पहुँचेगा और देश अपने राजनीतिक लक्ष्य से दूर हो जाएगा।[2]

तिलक का कहना था, ''मैं इसमें विश्वास नहीं करता कि राजनैतिक मुक्ति के पूर्व ही सामाजिक पुन निर्माण का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक हमें अपना भविष्य स्वयं निश्चित करने की शक्ति नहीं प्राप्त हो जाती, तब तक, मेरी राय में, राष्ट्रीय पुनर्जागरण नहीं लाया जा सकता। मैंने अपने जीवन में सदा इसी विश्वास का प्रचार किया है। जब मैंने 'एज ऑफ कन्सेन्ट बिल, का विरोध किया था, तो वह मुख्यतया केवल इसी आधार पर। मैं न तो तब समझता था और न ही अब समझता हूँ कि ऐसा कोई भी विधान मण्डल, जो जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं है, सामाजिक विषयों पर कानून बनाने के लिए सक्षम है।''[3]

---

1. रामगोपाल : लोकमान्य तिलक, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बइ 1965 पृ० 100
2. रामगोपाल : लोकमान्य तिलक, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1965 पृ० 107.
3. डी० पी० करमरकर, बाल गंगाधर तिलक : ए स्टडी, पोपुलर बुक डिपो, बम्बई 1956, पृ० 78.

जाति पाति, अस्पृश्यता, बाल विवाह, विधवा विवाह, मद्यपान आदि पर विचार— तिलक का समाज सुधार का दृष्टिकोण परम्परा तथा आधुनिकता में समन्वय का प्रतीक था। तिलक ने सामाजिक सम्बन्धों के संदर्भ में हिन्दू समाज की कतिपय मान्यताओं को स्वीकार किया किन्तु वे हिन्दू समाज की रूढ़ियों से बंधें हुए नहीं थे। अन्य जातियों के साथ बैठकर भोजन आदि करने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती थी। 1891 'पंचदौह काण्ड' में जिसमें उन्हें ईसाई पादरी जोशी के साथ चाय पीनी पडी। जिसके फलस्वरूप जन साधारण में एक बंबडर खड़ा हो गया और उन्हें जाति बहिष्कार की दमकी दी गई, तो उन्होंने गुरू शंकराचार्य के पवित्र न्यायालय में उपस्थित होकर हल्के से दण्ड को स्वीकार किया और अपने इस व्यवहार से यह स्पष्ट किया कि यह परिस्थितियों की माँग थी कि विदेशी हुकूमत से लड़ने के लिए जनता को अपना सहयोगी बनाया जाए और जन जीवन का अनादर नहीं करना चाहिए।[1]

तिलक ने इस घटना के विषय में लिखा था : "समाज सुधारक जादू की छड़ी घुमाकर ही सभी सुधार करना चाहते है। हमारा कहना यह है कि सुधार देश काल की परिस्थितियों के अनुरूप ही हो सकते है। हम सभी के अपने परिवार है और हम समाज के साथ ही रहना चाहते हैं। इस दशा में वैयक्तिक भावनाओं और समाचेच्छा के बीच सामंजस्य होना ही चाहिए। इसी सामंजस्य और समझौते पर आधारित सुधार स्थायी और टिकाऊ होंगे। जो लोग चाहते है कि केवल अपनी इच्छाओं के अनुसार ही जीवन बिताएं, उन्हें किसी एकान्त में रह कर ही ऐसा करना चाहिए। अन्य जो लोग समाज में रहना चाहते है, उन्हें अपनी इच्छाओं और सामाजिक परिपाटी के बीच समझौता करना होगा।"[2]

---

1. डी० पी० करमरकर, बाल गंगाधर तिलक : ए स्टडी, पोपुलर बुक डिपो, बम्बई 1956, पृ० 78.

2. एन० जी० जोग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग भारत सरकार नई दिल्ली 1969, पृ० 33

तिलक ने अस्पृश्यता के विरोध में कहा कि "यदि ईश्वर भी कहे कि मैंने अस्पृश्यता की व्यवस्था दी है, तो मैं ईश्वर के अस्तित्व को भी नहीं मानूंगा।" 1910 में घटित वेदोक्त घटना का प्रश्न यह था कि ब्राह्मणेतर जातियों तक वैदिक संस्कार के विशेपाधिकार का विस्तार किया जाए या नहीं। तिलक इसके विरुद्ध नहीं थे किन्तु वह ब्राह्मण पुरोहितों को बाध्य करने के विरुद्ध थे : "प्रश्न यह था कि क्या किसी रूढ़िवादी ब्राह्मण को उसकी इच्छा के विरुद्ध प्राचीन शासकों द्वारा दिए गए 'इनामों' को जब्त करने का भय दिखाकर ब्राह्मणेतर परिवारों में वैदिक रीतियों का पालन करने को बाध्य किया जाना चाहिए। इसको उचित मानने से व्यक्तिगत स्वाधीनता के सिद्धान्त का उल्लंघन होता है। मैं जानता हूँ कि हर जाति, यदि चाहे तो, वेदोक्त रीतियों का पालन कर सकती है, लेकिन कोई भी प्राचीन शासकों द्वारा किए गए 'इनामों' की जब्ती को उचित नहीं ठहरा सकता।[1]

शिवाजी तथा गणपति महोत्सव में उन्होंने अवर्णों को सवर्णो के साथ सम्मिलित किया तथा उनके साथ कुलीन हिन्दुओं जैसा व्यवहार किया। इस प्रकार तिलक समाज सुधार के क्षेत्र में अनेक समाजसुधारकों से आगे थे।[2] उन्होंने बाल विवाह का विरोध तथा विधवा विवाह का समर्थन किया। 9 जनवरी 1890 में बैरमजी मलाबारी द्वारा प्रस्तावित सुधार प्रस्तावों में संकलिन करने के लिए कुछ प्रस्ताव पेश किए—(1) कन्याओं का विवाह 16 वर्प की अवस्था से पूर्व नहीं होना चाहिए, (2) युवकों का विवाह 21 वर्ष के पूर्व नहीं होना चाहिए। (3) किसी भी पुरुष को 40 वर्ष के बाद विवाह नहीं करना चाहिए, (4) यदि कोई पुरुप पुन: विवाह करना चाहे, तो उसे किसी विधवा से विवाह करना चाहिए, (5) दहेज प्रथा बन्द हो, (6) मद्यपान बन्द हो, (7) विधवाओं का मुण्डन न हो, (8) जो लोग इन प्रस्तावों को स्वीकार करे वे अपनी आय का दसवां भाग इन्हें लागू करने के लिए दान दें।

---

1. एन जी० जोग, वही, पृ० 35
2. डी० वी० अथातये : दी लाइफ ऑफ लोकमान्य तिलक, जगतहितेच्छु प्रेस पूना 1921, पृ० 54.

लेकिन किसी भी समाज सुधारक ने तिलक के प्रस्तावों का समर्थन नहीं किया।[1]

इस प्रकार तिलक ने समाज सुधारकों के कथन और कार्य के भेद को अपने जीवन में प्रविष्ट नहीं होने दिया। अन्तर केवल यह था कि तिलक समाज सुधारों को कानून के माध्यम से क्रियान्वित करने के पक्ष में न थे। प्रो० डी० के० कर्वे द्वारा विधवा विवाह किये जाने पर उन्हें बधाई दी। उन्होंने स्वयं अपनी पुत्रियों का विवाह पन्द्रह वर्ष की आयु के पश्चात किया।[2]

तिलक बाल विवाह के पक्ष में न थे और न ही अतपावस्था सम्भोग के समर्थक थे, परन्तु उन्होंने 'सहमति आयु विधेयक' (The Age of Consent Act, 1891) का विरोध किया। उन्होंने इस विधेयक का विरोध केवल इसलिए किया कि वे चाहते थे कि समाज सुधार के क्षेत्र में विदेशी सरकार हस्तक्षेप न करे। पर जब यह विवाह आयु विधेयक कानून बन गया तो तिलक ने उसका पालन किया।[3]

तिलक का समाज सुधार से कोई विरोध नहीं था, उनकी दृष्टि से भारत का पाश्चात्य स्वरूप में पुनर्निमाण भारत की महानता के लिए घातक था, और किसी भी प्रकार के सुधार को विदेशी शासन द्वारा जबरन थोपा जाना उस सुधार को अनैतिक बनाना था।[4]

तिलक की यह मान्यता थी कि भारत के गौरवपूर्ण अतीत को भुलाने के स्थान पर उन त्रुटियों को दूर किया जाय जिसके कारण कतिपय सामाजिक कुरीतियां पनप गई थी। उन कुरीतियों, अंध विश्वासों एवं रूढ़ियों के अन्त के पश्चात् शेष को यथावत् बनाये रखा जाय। तिलक ने कहा "जिस प्रकार से रूढ़िवादी मान्यताएं तथा उनके पोषक पंडिण एकपक्षीय है उसी प्रकार से अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त

---

1. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग भारत सरकार नई दिल्ली 1969 पृ० 31-32.
2. डी० वी० अथातये: दी लाइफ ऑफ लोकमान्य तिलक, जगतहितेच्छु प्रेस पूना 1921, पृ० 55.
3. टी० वी० पर्वते : बाल गंगाधर तिलक : शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा 1968, पृ० 156.
4. थियोडोर एल० शे०, दी लिगेसी ऑफ दी लोकमान्य, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1956पृ० 64.

सुधारक भी एकपक्षीय एवं दकियानूसी है। पुराने शास्त्री तथा पंडित नवीन परिस्थितियों से उसी प्रकार अपरिचित है जिस प्रकार से नवीन शिक्षा प्राप्त सुधारक हिन्दू धर्म की परम्पराओं एवं दशर्न से। अत: यह नितान्त आवश्यक है कि नवीन शिक्षा प्राप्त वर्ग को प्राचीन मान्यताओं तथा दर्शन का उचित ज्ञान कराया जाय तथा पुराने पंडितों तथा शास्त्रियों को नवीन परिवर्तनों एवं परिवर्तनशील परिस्थितियों की जानकारी दी जाय।''[1]

आलोचको का कहना था कि तलिक राजनीति में वामपंथी और धार्मिक मामलों में घोर दक्षिण पंथी थे। उन्होंने 7 जून 1892 की 'केसरी' में लिखा था—''हमारे राजनीतिक क्षेत्र की तथा उनके सामाजिक क्षेत्र की समस्याओं में पर्याप्त समानता है न तो हमें देश के वर्तमान प्रशासन से ही पूर्ण संतोष मिलता है और न ही अपनी सामाजिक स्थिति से हम तो दोनों में सुधार चाहते है।'' अंग्रेजी प्रशासन तथा भारतीयसमाज दोनों की ही जड़े गहरी है। इसलिए हमें बड़े ध्यान से काम करना है। अब यदि जनता राजनीतिक सुधारों को आपसी तौर पर अपनाने को तैयार है तो हमारी समझ में नहीं आता कि हम सामाजिक सुधारों की विद्रोहात्मक रूप में लेकर क्यों चले। मधान्ता पूर्ण आत्मघातक विरोध कभी-कभी सफल हो जाया करता है किन्तु राजनैतिक तथा सामाजिक मामलों में मधान्ता आत्मघातक ही है।''[2]

तिलक विधवा विवाह के समर्थक थे और मद्यपान के घोर विरोधी। उस समय महाराष्ट्र में सरकार की आनकारी नीति के कारण लोगों में मद्यपान का व्यसन बहुत बढ़ गया था। विदेशी प्रभुत्व का शिकंजा इतना कठोर था कि कोई इस बुराई को दूर करने के लिए जन आन्दोलन छेड़ने के बात भी नहीं सोचना था। लेकिन तिलक ने बहादुरी पुर्ण कमद उठाकर सरकार की आनीकारी नीति की

---

1. थियोडोर एल० शे०, वही, पृ० 64.
2. रामगोपाल, लोकमान्य तिलक, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1965, पृ० 30.

कटु आलोचना की और कहा कि "सरकार से ऐसी आशा करना मूर्खता होगी कि वह मद्यपान बन्द कर देगी। यह तो युवकों को चाहिए कि वे मद्यपान के विरुद्ध अपने विचार प्रकट कर दे।"[1] तिलक ने जनता को निमन्त्रण किया कि मदिरा की दुकानों पर धरना देना चाहिए। धरना देने का तरीका सीधा है और उससे कानून की अवज्ञा भी नहीं होती, तिलक ने जगह-जगह सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिये जिसमें हिन्दू धर्म और इस्लाम में मदिरा पीना बर्जित है, इस पर प्रकाश डाला। **तिलक ने कहा** "अंग्रेजों के कारण भारतीयों का अद्य:पतन हो रहा है। अंग्रेजो ने उन्हें मदिरा पीना सीखा दिया है और वे प्रतिवर्ष 10 करोड़ रुपया भारत से उस मद में ले जाते है लोगों की चरित्र कि वे अपने गांव में मदिरा की दुकान न रहने दे और यदि मदिरा की दुकान हटाने के कारण उन्हें सूली पर चढ़ा दिया जाए तो कोई परवाह की बात नहीं।"[2]

तिलक ने विधवा विवाह और अस्पृश्यता का समर्थन करते हुए कहा था, "जब विधवा विवाह का आन्दोलन पूरे जोर पर था, तो मैने ही सुधारकों को सलाह दी थी कि वे शंकराचार्य और सनातनी हिन्दू नेताओं से किसी उचित आधार पर कोई समझौता कर लें। मेरे विचार से विधवा विवाह पर लगाई गई रोक केवल ब्राह्मणों तथा उनका अनुगमन करने वाली कुछ अन्य जातियों तक ही सीमित है। इसलिए मैनें जो प्रस्ताव रखा था, वह यही था यद्यपि बाद वाले हिन्दू कानून ने विधवा विवाह की मंजूरी नहीं दी है, फिर भी शास्त्रोनुमोदित विवाह के रूप में इसे शामिल करके तथा रूढ़िवादियों की स्वीकृति प्राप्त कर इस सामाजिक कुप्रथा का अन्त करने के लिए किसी समझौते पर पहुँचा जा सकता है।"[3]

---

1. रामगोपाल, वही, 39.
2. रामगोपाल, वही, 39.
3. एन० जी० योग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग भारत सरकार नई दिल्ली, 1969, पृ० 37.

तिलक सामाजिक एवं धार्मिक मामलों में नौकरशाही का हस्तक्षेप अनुचित मानते ते। किसी भी सामाजिक कानून को लागू करने के लिए कार्यपालिका और फिर तत्सम्बन्धी समस्याओं के लिए न्यायपालिका की आवश्यकता रहती है और फलस्वरूप नौकरशाही की शक्ति का क्षेत्र विकसित होता है। उनका यह भी मानना है कि भारतीयों के हक में यह कतई ठीक नहीं है कि ब्रिटिश नौकरशाही का कार्यक्षेत्र विकसित हो। और विदेशी लोग भारतीयों की सामाजिक समस्याओं पर निर्णय दे यह लज्जाजनक है।[1]

समाज सुधार पद्धति— लोकमान्य तिलक को तत्कालीन समाज सुधारकों का रूख पसन्द न था उन्हें इस बात से बड़ा कष्ट था कि एक तो ये समाज सुधारक पाश्चात्य विचारों की हिन्दू समाज में ढूँसना चाहते थे और दूसरे हिन्दू धर्म तथा समाज के प्रति इनमें बहुत कुछ घृणा और उपेक्षा के भाव ते। तिलक परिवर्तन के तो पक्षपाती थे लेकिन वे इस पक्ष में नहीं थे कि सामाजिक परिवर्तन और सुधारों को लागू करने के लिए भारतीयों का पश्चिमी करण कर दिया जाय।[2] समाज सुधार करने की पद्धति के प्रश्न पर उनका तत्कालीन सुधारवादियों से मतभेद था। रानाडे, गोखले, आगरकर और मालाबरी जैसे पश्चिमी प्रभावित समाज सुधारकों से उनके विचार मेल नहीं खाते थे। समाज सुधार के विरोधी होने के अपने ऊपर लगाये गये तथाकथित आरोप के विकल्प में तिलक ने लिखा था—''कोई भी सच्चा राष्ट्रवादी प्राचीन आधारशिलाओं पर ही पुर्न निर्माण करना चाहता है। वह सुधार जो प्राचीनता के प्रति अनास्था एवं अनादर के भाव पर टिका हुआ है टिकाऊ प्रतीत नहीं होता। इसलिए कोई भी सुधार कार्य चालू करने के पहले मैं किसी सुनिश्चत राष्ट्रीय हित की अक्षुण रखने और समृद्ध करने की कोशिश करता हूँ आयरलैण्ड की राजनीति में भी इसी प्रकार के परिवर्तन हुए है...........हम सुधार के नाम पर अपनी संस्थाओं का अंग्रेजीकरण व अराष्ट्रीयकरण करना नहीं

---

1. टी० वी० पर्वते : बाल गंगाधर तिलक, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी आगरा 1968, पृ० 299.

2. एम० जी० योग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, पृ० 36.

चाहते। हमारा ध्येय अपने देश की उन्नति ही है। ताकि वह संसार के अन्य देशों की बराबरी कर सके।[1]

लोमान्य तिलक के समाज सुधार सम्बन्धी विचारों और पद्धति से हमें उनके सामाजिक दर्शनों का स्वरूप भलीभांति स्पष्ट हो जाता है। तिलक के घोर विरोधी शिरोल ने उन्हें **भारतीय अशान्ति का जनक**[2] कहा। लेकिन तिलक के समाज सुधार सम्बन्धी प्रयत्न और विचारों से शिरोल का आरोप सर्वथा असत्य सिद्ध होता है सही बात तो यह है कि तिलक एक उदार और आदर्श सामाजिक दर्शन के प्रणेता थे, हाँ "तिलक पाश्चात्य आधार पर सामाजिक परिवर्तन लाने के विरुद्ध थे।"[3] फिर ये भी था कि तिलक ने समाज सुधारों से पहले राजनीतिक सुधारों को प्राथमिकता दी। "वे राष्ट्रवादी थे इसलिए उन्होंने राजनैतिक मुक्ति को प्राथमिकता दी उनका विचार था कि नैकशाही के विरुद्ध सफल संघर्ष चलाने के लिए आवश्यक है कि जनता की धार्मिक तथा सामाजिक एकता अक्षुण रखी जाय। अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उन्होंने देख लिया था कि समाज सुधार से सामाजिक विधान की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है और इस बात को उस समय वे दुर्भाग्यपूर्ण समझते थे। उनका कहना था कि केवल सामाजिक प्रगति राजनीतिक मुक्ति की कसौटी नहीं है।"[4] अत: तिलक का अपराध यही था कि उन्होंने समाज के प्राचीन आदर्शों और मूल्यों का पक्ष लिया तथा भारतीयों को पश्चिम की अन्य भक्ति न करने की चेतावनी दी।

तिलक ने जो सामाजिक दर्शन प्रस्तुत किया उसके महत्वपूर्ण तथ्य स्पष्टत: ये थे : (1) तिलक सामाजिक परिवर्तन के विरोधी नहीं थे वरन् उस सामाजिक परिवर्तन का विरोध करते थे जो पश्चिम

---

1. एम० जी जोग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, पृ० 36.
2. वी० शिरोल, इण्डियन अनरेस्ट, लन्दन-1910
3. वी० पी० वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1977, पृ० 195.
4. वी० पी० वर्मा, वही, पृ० 195.

के अन्धानुकरण से होता है (2) तिलक ने राजनीतिक जागरण और राजनीतिक सुधारों को सामाजिक सुधारों की तुलना में प्राथमिकता दी। (3) तिलक सामाजकि सुधार सहज और स्वभाविक ढंग से होने के पक्षधर थे। जिससे असन्तोष और सामाजिक संगठन की बाधा से बचा जा सके। (4) वे सामाजिक परिवर्तन क्रमिक और सावयवी रूप में पसन्द करते थे। तथा पश्चिमी करण की प्रवृत्ति के विरोधी थे।[1]

अत: तिलक ने जिस प्रकार स्वराज्य को सामाजिक व्यवस्था का आधार बताया उस परिपेक्ष्य में **जवाहर लाल नेहरू के ये विचार** "तिलक आधुनिक भारत के हरक्यूलीज तथा प्रोमेथियस"[2] ही नहीं अपितु "भारतीय राष्ट्रवाद के पिता थे" यह सत्य ही है क्योंकि उसका मानना था कि राष्ट्र की प्रगति का मूल स्वराज्य में ही निहित है स्वराज्य के अभाव में औद्योगिक प्रगति राष्ट्रीय शिक्षा सामाजिक सुधार आदि कुछ भी सम्भव नहीं है यदि स्वराज्य मिल गया तो हमारे विभिन्न उद्देश्य सुगमतापूर्वक पूरे हो सकते है। स्वराज्य की धारणा को तिलक ने प्राकृतिक सिद्धान्तों पर आधारित किया। उन्होंने माना कि स्वराज्य व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है और यह भारतीयों का सर्वोपरि कर्त्तव्य है कि वे स्वराज्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष करे। इसी से ही राष्ट्र एवं समाज की उन्नति होगी।

---

1. अवस्थी एण्ड अवस्थी, आधुनिक भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन, पृ० 258 259.

2. जवाहर लाल नेहरू, टुवर्ड फ्रीडम, दी जॉन डे कम्पनी, न्यूयार्क, 1942 पृ० 85.

<u>अध्याय—4</u>

गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक और सामाजिक विचार

राजनीतिक विचार—गोपाल कृष्ण गोखले का जीवन प्रारम्भ से ही सरल और संयमशील रहा तथा उनके बौद्धिक गुण उनके भावी उज्जवल जीवन का संकेत देते रहे। 1866 में महाराष्ट्र में जन्में गोखले अपने युग के चमकते हुये सितारे थे जिन्होंने भारत के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में अपने चिन्तन और कार्य-कलापों का प्रसार किया। सभी क्षेत्रों में नैतिकता के स्पर्श की कामना की, आदान-प्रदान और समझौते के मार्ग का समर्थन किया। वैद्यानिक आन्दोलन को गति दी तथा आदर्शवादी गोखले का समन्वय किया। गड्ढखले की महानता इस बात में की कि राजनीति में उन्होंने नैतिक मूल्यों को स्थान दिया, तथा विभिन्न हलचलों, राजनीतिक झंझावतो और उग्रवादियों के प्रतिरोध के बावजूद बड़े धैर्य और संयम के साथ सांविधानिक मार्ग पर चलते रहे। गोखले ने सदैव क्रमिक सुधारों का पक्ष लिया और भारत के लिए एकाएक, स्वशासन की मांग को अव्यावहारिक माना।[1]

भारतीय उदारवादी चिंतन परम्परा में गोपाल कृष्ण गोखले का अग्रणी स्थान है। गोखले के राजनीतिक चिन्तन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उसमें आदर्शवाद एवं यथार्थवाद का अभूतपूर्व समन्वय एवं समिश्रण पाया जाता है। गोखले का हृदय कभी भी अमूर्त आदर्शवाद के कल्पनालोक में विचरण नहीं करता था, वह तो उन चिन्तकों में से एक थे जिनका सदैव यही सचना था कि तत्कालीन परिस्थितियों में क्या सम्भव हो सकता है: बशर्ते कि वह मूर्त रूप से होना चाहिये। राजनीतिक क्षेत्र में गोखले की महानता का पता इसी से चलता है कि महात्मा गांधी जैसे भारतीय

---

1. दुर्गादास; भारत कर्जन से नेहरू और उसके पश्चात् पृ०-52

स्वतंत्रता के जनक ने उन्हें अपना राजनीतिक गुरू कहा था तथा कर्जन ने उन्हें विश्व का महान संसदविज्ञ कहा था।[1]

गोखले के राजनीतिक विचारों पर उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवादी विचारों की स्पष्ट छाप मिलती है। गोखले ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में उदारवाद का प्रसार किया और जनजीवन को उदारवादी विचारधारा के प्रति आकर्षित किया। गोखले अपने गुरू महादेव गोविन्द रानाडे के सदृश्य यह मानते थे कि भारत में अंग्रेजों का शासन विधाता की इच्छानुसार हुआ और वह भारतीयों की भलाई के लिए स्थापित किया गया था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि भारत में अंग्रेजी शासन भारतीय जनता को स्वशासन की ओर प्रवृत्त करेगा और कालान्तर में भारतीय स्वयं अपना प्रशासन चलाने के योग्य हो जायेगें। उदारवादी विचारधारा से ओत प्रोत होने के कारण गोखले ने भारत में संविधानवाद का सहारा लिया उनके अनुसार क्रमिक संवैधानिक विकास का मार्ग अपनाकर भारत अपनी राजनीतिक प्रगति कर सकता था। भारत को इंग्लैण्ड के मार्ग दर्शन में रहकर अपनी राजनीतिक उन्नति करनी थी। वे भारत में पाश्चात्य शिक्षा एवं यूरोप सदृश्य राजनीतिक संस्थाओं का व्यापक प्रयोग करना चाहते थे। इस कार्य के लिए वे इंग्लैण्ड तथा भारत के मध्य मधुर सम्बन्धों की स्थापना करना चाहते थे ताकि भारत ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत प्रतिनिधि शासन व्यवस्था स्थापित कर सके। गोखले के अनुसार भारत की जनता नैतिक उत्तरदायित्व की भावना के कारण अंग्रेजी शासन से बँधी थी। उनके अनुसार अंग्रेज भारत की सत्ता को नैतिक न्यास के रूप में रखे हुए थे।[2]

गोपाल कृष्ण गोखले के भारतीय राजनीतिक विचारों को उनके निम्नलिखित राजनीतिक विचारों के संदर्भ में देखा जा सकता हैं—

---

1. दुर्गादास, भारत कर्जन से नेहरू तक पृ० 52
2. टी० आर० देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, पब्लिकेशन्स भारत सरकार नई दिल्ली 1969, द्वितीय संस्करण पृष्ठ 116

स्वतंत्रता—अपने महान गुरू न्यायमूर्ति रानाडे की ही भाँति गोखले भी ब्रिटिश उदारवादी दर्शन में पूर्ण आस्था रखते थे। उदारवादी दर्शन से उनका परिचय आंग्ल साहित्य के अध्ययन ने करवाया जिस प्रक्रिया में एलिफन्टस कालेज के प्राचार्य डॉ० वर्डसवर्थ की प्रमुख भूमिका रही। रानाडे, नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे भारतीय उदारवादी परम्परा के प्रमुख नेताओं के सम्पर्क ने उनके उदारवादी विश्वास को अधिक मजबूत बनाया।[1]

स्वतंत्रता उदारवादी दर्शन का मूल सिद्धान्त है मानव जीवन में उसके व्यक्तित्व के विकास हेतु गोखले भी स्वतंत्रता को अनिवार्य मानते थे। यही कारण था कि कुशलता के लिए स्वतंत्रता का बलिदान करते हुए, लार्ड कर्जन के प्रशासन की कटु आलोचना की थी।

गोखले ने आग्रहपूर्वक कहा था, देश में प्रतिनिधि संस्थाएं बने बिना व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सुरक्षा सम्भव नहीं है। अत: राजनीतिक स्वतंत्रता की उनकी माँग प्रतिनिधि संस्थाओं की उनकी मांग से पृथक नहीं थी। गोखले ने पूर्ण मताधिकार का समर्थन नहीं किया। उन्होंने मताधिकार के सम्बन्ध में सम्पत्ति सम्बन्धी कुछ योग्यताओं का सुझाव दिया था। उदाहरणार्थ ग्राम पंचायतों के निर्वाचन में भी वह मतदान का अधिकार उसी को प्रदान करना चाहते थे, जो वर्ष में कम से कम दस रुपये लगान चुकाता हो।[2] उनके अनुसार शिक्षित वर्ग, स्वाभाविक नेता होने के नाते सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व करता था। यद्यपि कि गोखले ने सभी के लिए मताधिकार का समर्थन नहीं किया तथापि उन्होंने भविष्य में सब के लिए मताधिकार के द्वार बन्द नहीं किए। उन्होंने न केवल व्यवस्थापिकाओं में जन प्रतिनिधित्व का समर्थन किया, वरन् वह उनके हितों के प्रतिनिधित्व के भी समर्थक थे। उदाहरणार्थ, कराची के उद्योग संघ, अहमदाबाद के मिल स्वामियों और दक्कन के सरदारों का वह प्रतिनिधित्व चाहते थे। धार्मिक अल्पसंख्यकों को भी वह नि:संकोच प्रतिनिधित्व देना चाहते थे।[3]

---

1. जे० एम० होयलैण्ड, गोपाल कृष्ण गोखले, वाई० एम० सी० ए० पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता 1933, पृ० 11
2. जे० एम० होयलैण्ड, वही पृ० 13
3. जे० एस० होयलैण्ड वही, पृ० 14

गोखले ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक मतभेदों को स्वीकार किया और राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका सहयोग प्राप्त करने के दृष्टिकोण से वह उन्हें पृथक प्रतिनिधित्व भी देना चाहते थे। मिल की भाँति गोखले भी केवल करदाताओं तथा शिक्षित व्यक्तियों को ही मतदान का अधिकार देना चाहते थे। गोखले ने अल्पसंख्यकों को भी प्रतिनिधित्व प्रदान करने की दृष्टिकोण से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का समर्थन किया। यहाँ पर भी वह मिल से प्रभावित थे।

गोखले स्वतंत्रता के लिए कार्यपालिका एवम् न्यायपालिका के पृथक्करण के समर्थक थे। उनका विचार था कि दोनों के संयुक्त होने से नागरिक स्वतंत्रता खतरे में पड़ जायेगी। उन्होंने अनावश्यक राजकीय नियंत्रणों का कभी भी समर्थन नहीं किया। इससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास अवरूद्ध हो जाता है।[1]

ब्रिटिशराज से सम्बन्ध—आधुनिक भारत के उदारवादी परम्परा के अन्य नेताओं, तथा अपने गुरू रानाडे की ही भांति गोखले भी ब्रिटिश राज को भारत के लिए एक ईश्वरीय वरदान के रूप में देखते थे।[2] उनका विश्वास था कि भारत के ब्रिटिश राज ईश्वरीय विधान की योजना का ही एक अंग है और उसका उद्देश्य भारत को भारी लाभ पहुँचाना है। गोखले के राजनीतिक चिंतन का इस बात पर आधारित था कि ब्रिटिश राज्य के सहयोग से ही अपनी उन्नति कर सकता है। भारत के साथ ब्रिटिश का सम्पर्क अनिवार्य है। उन्होंने अपने तथा देशवासियों के समक्ष ब्रिटिश साम्राज्य के एक अभिन्न अंग के रूप में भारत के लिए अधि राज्य पद Dominion States का लक्ष्य रखा। अंग्रेजों के साथ भारत के राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद का विचार उनके अन्त:करण में एक क्षण भर के लिए भी नहीं आया।[3]

---

1. दुर्गादास; भारत कर्जन से नेहरू और उसके पश्चात, पृ० 54
2. वी० पी० वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, मैसर्स लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा 1995, पृ० 220
3. वी० पी० वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, वही, पृ० 220

गोखले भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठावान थे। उनकी शासन के प्रति स्वामिभक्ति देशप्रेम का ही पर्यायवाची थी। वे इस कारण से अंग्रेजीराज के प्रति निष्ठावान नहीं थे कि वह विदेशी शासन का अपितु इस कारण से निष्ठा रखते थे कि वह व्यवस्थित शासन था। गोखले अव्यवस्था अथवा अराजकता के विरोधी थे। वे शासन की हार अथवा शासन को कमजोर बनाने वाले किसी भी कार्य के लिए सहमत नहीं थे। वे स्वामिभक्ति के वशीभूत होकर शासन की सदैव रक्षा तथा सहायता करने के पक्षपाती थे। सरकारी अफसरो के कृपापात्र बनने की दृष्टि से यह स्वामिभक्ति प्रदर्शित नहीं की गई थी। उनका वास्तविक उद्देश्य जागृत आत्महित से प्रेरित था। वे ब्रिटिश जनमत तथा भारत के अंग्रेजी शासन को भारत के विकास का सहभागी मानते थे। अंग्रेजों के सहयोग से भारत में जिस प्रकार से प्रशासन शिक्षा एवं नागरिक चेतना का संचार हुआ था उसे देखते हुए गोखले शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र अथवा असहयोग प्रदर्शित कर शासन को तनिक भी विकृत अथवा दुर्बल करने के पक्ष में नहीं थे।[1]

आधुनिक भारतीय उदारवादियों की ब्रिटिश राज में मुख्य रूप से दो कारणों से गहरी आस्था थी—प्रथम ब्रिटिश न्याया प्रियता का विचार एवं द्वितीय ब्रिटिश शासन की लोकतांत्रिक संस्थाओं तथा शिक्षण पद्धति के प्रति आकर्षण। उदारवादी चिन्तन का यह विश्वास गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक चिन्तन में मुखरित हुआ। पूना कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने कहा—"अच्छे अथवा बुरे के लिए हमारा भविष्य एवम् हमारी आकाँक्षाए ब्रिटिश राज्य के साथ जुड़ गई है और कांग्रेस उन्मुक्त रूप से यह स्वीकार करती है कि जिस प्रगति की हम आकांक्षा करते है वह ब्रिटिश शासन की सीमाओं में ही है।[2] **1902 में अपने एक बजट भाषण में गोखले ने कहा—**"आवश्यकता इस बात की है कि हमें यह महसूस करने दिया जाय कि हमारी सरकार विदेशी होते हुए भी भावना से राष्ट्रीय

---

1 टी० वी० पार्वते, गोपाल कृष्ण गोखले, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद 1959 पृ० 255 तथा 457

2. टी० आर० देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, पब्लिकेशन्स डिवीजन, भारत सरकार नई दिल्ली 1969 द्वितीय संस्करण पृ० 116

है, वह भारतीय जनता के कल्याण को सर्वोपरि तथा अन्य सब बातों को उसकी तुलना में निम्नकोटि का मानती है, वह विदेशों में भारतवासियों के साथ किये गये अपमान जनक व्यवहार से उतनी क्रुद्ध होती है जितनी की अंग्रेजों के साथ किए गए दुर्व्यवहार से, और वह यथा सामर्थ्य हर उपाय से भारतीय जनता के भारत में तथा भारत के बाहर नैतिक तथा भौतिक कल्याण का परिवर्धन करने का प्रयत्न करती है। जो राजनीतिज्ञ भारतीय जनता के हृदय में इस प्रकार की भावनाएं उत्पन्न कर सकेगा वह इस देश की महानता तथा गौरवपूर्ण सेवा करेगा और भारतीय जनता के हृदय में अपने लिए स्थायी स्थान प्राप्त कर लेगा। यही नहीं उसके काम का महत्व इससे भी अधिक होगा। वह साम्राज्यवाद की सही भावना की दृष्टि से अपने देश की भी महान सेवा करेगा। श्रेष्ठ प्रकार का साम्राज्यवाद वह है जो साम्राज्य में सम्मिलित सभी जातियों एवम् जातियों को अपनी नियामतों तथा सम्मान आदि का समान रूप से उपयोग करने देना है। वह साम्राज्यवाद संकीर्ण है, जो यह मानता है कि सम्पूर्ण विश्व एक जाति के लिए ही बनाया गया है और अधीन जातियां उस एक जाति की चरणपीठिकाओं के रूप में सेवा करने के लिए बनायी गयी हैं।''[1]

यद्यपि गोखले ब्रिटेन की अधीश्वर शक्ति की सर्वोच्चता को स्वीकार करते थे और मानते थे कि ब्रिटेन के सम्पर्क से देश को अनेक लाभ हुये हैं, फिर भी उनका मन तथा दृष्टि भारत के गौरवमय भविष्य के काल्पनिक दृश्यों से प्रदीप्त था।[2] 1903 के अपने बजट भाषण में **गोखले ने कहा था,** ''ईश्वर की अनुकम्पा से भविष्य का भारत ऐसा नहीं होगा जिसमें जनता की समृद्धि निरन्तर घटती जाय, प्रगति की आशाएँ धूमिल हो और लोगों में औचित्यपूर्ण असंतोष व्याप्त हो, वरन् भविष्य के भारत में उद्योगों का विकास होगा, लोगों की शक्तियां जागृत होंगी समृद्धि बढ़ेगी और धन तथा सुख सुविधा के साधनों का अधिक व्यापक रूप से वितरण होगा। मुझे अपने देशवासियों की

---

1. स्पीचेजस आफ गोपाल कृष्ण गोखले, नटेसन मद्रास 1910 द्वितीय संस्करण पृ 36 37।
2. डा. वी. पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन।

अन्तरात्मा तथा उद्देश्य में विश्वास है और मैं समझता हूँ इस विषय में उनकी शक्तियाँ लगभग असीम है। किन्तु इस प्रकार का भविष्य केवल अधीश्वर शक्ति की अनरुद्ध छत्रछाया में ही साक्षात्कार किया जा सकता है, उसको छोड़कर अन्य किसी स्थिति में नहीं, और न ब्रिटिश ताज के अतिरिक्त अन्य किसी नियंत्रणकारी सत्ता के अधीन उसका (भविष्य) परिरक्षण ही किया जा सकता है।'[1]

गोखले की अंग्रेजी राज के प्रति निष्ठा का यह तात्पर्य नहीं था कि वे भारतीय राष्ट्रीय गौरव एवं सम्मान के प्रति चेष्टावान न थे। उन्हें भारत की महानता तथा भारत के उज्जवल भविष्य पर उतना ही गर्व था जितना किसी अन्य को हो सकता था किन्तु वे भारत के अतीत की दुहाई पर आश्रित रहने वालों में से न थे।[2] उन्हें पुनरूत्थानवादियों से यह शिकायत थी कि वे अतीत को पुन: प्राप्त करने की चेष्टा में वर्तमान को सुधारने तथा नवीन उपलब्धियों के प्रति विमुख रहने का प्रयास कर रहे थे। उनका चिन्तन यथार्थ पर आधारित था। वे भारत में अंग्रेजी शासन के लाभ को विस्मृति कर सुधारों की प्रक्रिया का त्याग पसन्द नहीं करते थे।[3]

गोखले भारत की गौरवशाली अतीत को वर्तमान के कष्टसाध्य प्रयासों द्वारा भविष्य के लिए सुरक्षित रखना चाहते थे उनका ध्यान वर्तमान तथा निकट भविष्य पर केन्द्रित था। वे भारत के राष्ट्रीय पुननिर्माण एवं पुर्नजीवन के लिए क्रमिक विकास का सहारा लेना चाहते थे "एक एक कदम आगे बढ़ाना" उनके राजनीतिक यर्थात का परिचायक था। पूर्ण स्वतंत्रता अथवा स्वराज्य की तत्काल प्राप्ति के स्थान पर गोखले ने ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन की स्थापना को अपना ध्येय माना।[4] उनके द्वारा विभिन्न सुधारों की मांग समय-समय पर प्रस्तुत की गयी और उसके आशातीत परिणाम

---

1. स्पीचेज ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, नटेसन मद्रास, 1920 द्वितीय संस्करण पृ. ८८।
2. टी. आर. देवगीरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, पब्लिकेशन्स डिवीजन दिल्ली भारत सरकार नई दिल्ली, 1964, द्वितीय संस्करण पृ. 149।
3. वही पृ.
4. डी. वी. माथुर, गोखले ए पोलिटिकल बायोग्राफी, मानकालाज बम्बई, 1966 पृ. 621।

सामने आये। वे तत्कालिक प्रशासनिक ढांचे को सुधार कर भारत को उसकी महत्ता के अनुरूप स्थिति प्राप्त कराने के लिए उद्यत रहे। भारतीयों के लिए सार्वजनिक सेवाओं में उचित स्थान एवं समान व्यवहार की उनकी मांग का शासन पर प्रभाव पड़े बिना न रहा।[1]

इसके अतिरिक्त भी कई सुधारों की मांग उनके द्वारा प्रस्तुत की गई जिसमें प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण, स्वस्थ वित्तीय नीति, जन स्वास्थ्य की योजनाएँ, शासन पर अतिरिक्त एवं अनावश्यक खर्च में कटौती, शिक्षा का विस्तार, अकाल एवं महामारियों से सुरक्षा, उचित कृषि नीति, नौकरशाही में सुधार, दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति का विरोध आदि ने शासन को अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग किया।[2]

गोखले सुधारवादी थे और इस कारण से शांतिपूर्ण सह अस्तित्व के उपासक थे। वे उत्तेजनात्मक भाषणों तथा लेखों द्वारा जन आन्दोलन प्रेरित कर जनता को शासन के क्रूर अत्याचारों का शिकार बनाना पसन्द नहीं करते थें हिंसा अथवा बल-प्रयोग उनके चिन्तन का अंग नहीं बन पाया था। हिंसा से उत्पन्न प्रतिहिंसा, घ्रणा, विद्वेष तथा नरसंहार भारत की समस्याओं का स्थायी हल नहीं था। वे अंग्रेजो को उनकी न्यायप्रियता, संवैधानिकता एवं भारत स्वतंत्रता की उदारवादी परम्पराओं के अनुरूप व्यवहार करने का आग्रह कर भारत की समस्याओं का शान्तिपूर्ण निराकरण चाहते थे।[3]

गोखले के सामने भी यह प्रश्न था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्तर्गत स्वशासन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए किस प्रकार की राजनीतिक पद्धति को व्यवहार में लाया जाय। भरतीय उदारवादी यह महसूस करते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में राजनैतिक उद्धार का कोई सम्मानप्रद मार्ग नहीं

---

1. आर. पी. परांजपे, गोपाल कृष्ण गोखले आर्य भूषण प्रेस, पूना 1915 पृ. 83।
2. आर. पी. परांजपे, वही पृ. 83।
3. वी. पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, मैसर्स लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा, 1975, पृ. 223।

था। किन्तु उन्हें संवैधानिक आन्दोलन की पद्धति की सफलता पर किंचित मात्र भी संशय नहीं था।[1] इस सम्बन्ध में गोखले का कहना था कि यदि भारतवासी इस प्रश्न की व्यवहारिकता पर विचार करे, तो वे इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि संवैधानिक पद्धति राजनीतिक मुक्ति के लिए सबसे अच्छा साधन है।[2] वे संवैधानिक साधनों में तथा वैधानिक आन्दोलन के मार्ग पर अडिग आस्था रखते थे। कांग्रेस में नवोदित उग्र गुट के, उग्रविचारों के साधनों तथा असंवैधानिक मार्ग के वह विरुद्ध थे। गोखले की दृष्टि में संवैधानिक आन्दोलन के मार्ग का एक महत्वपूर्ण लाभ यह था कि इससे भारतीय अंग्रेजों की सहानुभूति से वंचित नहीं हो सकेंगे। इसके विपरित हिंसा एवं रोड़ा अटकाने के मार्ग से सरकार शत्रुता पूर्वक व्यवहार करने लगेगी जिससे जनता के कष्टों में और वृद्धि होती है।[3]

गोखले के अनुसार हिंसा से उत्पन्न प्रतिहिंसा, घृणा तथा नरसंहार भारत को समस्याओं का स्थायी हल नहीं था।[4] उनका कहना था कि संवैधानिक आन्दोलन का लक्ष्य, अधिक से अधिक, जितना सम्भव हो सके राजकीय अधिकारियों के ऊपर समस्याओं के समाधान हेतु दबाव डालना था लेकिन इस सन्दर्भ में जो आधारभूत तथ्य है वह यह है कि इसके पक्ष में देश के अन्तर्गत एक शक्तिशाली जनमत तैयार कर लेना चाहिए।[5]

अत: गोखले की मान्यता थी कि नेताओं को अपना सारा ध्यान इस लोक राय के निर्माण पर केन्द्रित करना चाहिए। अपने लोगों की शक्ति में वृद्धि ही सभी आन्दोलनों का लक्ष्य होता है। इसी लक्ष्य की ओर हमारे सभी प्रयत्न निर्देशित होने चाहिए। गोखले सुधारवादी थे और इस कारण वे

---

1. एम. ए. बुश, राइज एण्ड ग्रोथ आफ इंडियन लिबरलिज्म फ्राम राममोहन राय टू गोखले बड़ौदा 1938, पृ. 146।
2. वी. पी. वर्मा आधुनिक भारतीय राज चिन्तन. मैसर्स लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक हास्पिटल रोड. आगरा, द्वितीय संस्करण 1975पृ. 116।
3. वही पृ० 117.
4. आर० पी० परांजपे, गोपाल कृष्ण गोखले, आर्यभूषण प्रेस पूना 1915 पृ० 87.
5. आर० पी० पराँजपे गोपाल कृष्ण गोखले आर्य भूषण प्रेस पूना 1915 पृ० 88

शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के उपासक थे। वे अंग्रेजों की उनकी न्यायप्रियता, संवैधानिकता एवं मानव स्वतन्त्रता की उदारवादी परम्पराओं के अनुरूप व्यवहार करने पर तथा भारत की समस्याओं की शांतिपूर्ण निराकरण पर जोर देते थे।[1]

गोखले ने समस्याओं के समाधान हेतु राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन में हिंसात्मक साधनों के महत्व को अस्वीकार कर दिया समान परिस्थितियों में निष्क्रिय प्रतिरोध (पैस्सिव रिसिस्टेंस) का समर्थन नहीं किया। उनके क्रियात्मक कार्यक्रम में इस प्रकार का निष्क्रिय प्रतिरोध सम्मिलित नहीं था जो उनकी दृष्टि में व्याप्त परिस्थितियों में अबुद्धिमत्तापूर्ण और कार्य साधक नहीं था।[2] 1909 में लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में दक्षिण अफ्रीका के संदर्भ में एक अविस्मरणीय भाषण दिया जिसमें उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा "निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन क्या है? यह अपनी प्रकृति में मूलत: आत्मरक्षात्मक है और इसमें नैतिक तथा आध्यात्मिक शस्त्रों की सहायता से युद्ध किया जाता है। निष्क्रिय प्रतिरोधी अपने शरीर पर कष्टों को झेलकर अत्याचार का प्रतिरोध करता है। पशुबल का सामना वह अत्मबल से करता है मनुष्य के पशुत्व का मुकाबला वह मनुष्य के देवत्व द्वारा करता है। वह अत्याचार का सामना आत्मपीड़न द्वारा, शक्ति का मुकाबला आत्मविवेक द्वारा, अन्याय का प्रतिरोध आस्था द्वारा और अनाचार का विरोध सदाचार द्वारा करता है।[3]

गोखले ने निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग करते समय कुछ बातों पर ध्यान देने को कहा-प्रथम, निष्क्रिय प्रतिरोध सुरक्षात्मक होना चाहिए, आक्रामक नहीं। दूसरे, इसका प्रयोग आध्यात्मिक एवं

---

1. ए० अप्पादोराई, इंडियन पोलिटिकल थिंकिंग फ्राम नौरोजी टू नेहरू, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, फैराडे हाउस, कलकत्ता 1974 पृ० 23.
2. ए० अप्पादोराई, वही, पृ० 24
3. स्पीचेस ऑफ गोखले, जी० ए० नटेसन द्वारा प्रकाशित मद्रास, 1916 पृ 112

नैतिक होना चाहिए न कि प्रतिशोधात्मक। एक निष्क्रिय प्रतिरोधी अपने विरोधी को कष्ट नहीं पहुँचा सकता। तीसरी बात यह थी कि एक निष्क्रिय प्रतिरोधक को केवल उन्हीं विधियों एवम् नियमों का उल्लंघन करना चाहिए जो उसकी चेतना के प्रतिकूल हो और जिसके अधीन कोई अपने आपको नहीं कर सकता है और उसे उस उल्लंघन के परिणामों के प्रति तैयार रहना चाहिए। इन सबके बावजूद भी इस मार्ग का अवलम्बन तभी तैयार करना चाहिए जबकि अन्य तरीके असफल हो जायँ।[1] अंत में गोखले की यह मान्यता थी कि संवैधानिक पद्धति हेतु सावधानी एवम् शनै:-शनै: वाद की आवश्यकता पड़ती है। स्वशासन जैसे महान लक्ष्य की प्राप्ति एक छलांग में नहीं हो सकती है। गोखले एक यथार्थवादी चिंतक थे जो कि स्वप्नलोक में उड़ाने नहीं लेते थे, वे ऐसी कोई मांग नहीं करते थे जो तत्कालीन परिस्थितियों में व्यवहारिक न हो।[2]

गोखले ने अपने प्रयासों से भारत को स्वराज्य प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर किया और कांग्रेस संगठन को अंग्रेजों के हाथ प्रतिबंधित होने से बचाया। गाँधी जी ने गोखले को अपना राजनीतिक गुरू माना।[3]

राष्ट्रीय एकता एवम् धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद—गोखले मानववादी थे उनका किसी भी धार्मिक समुदाय अथवा राष्ट्रीयता के प्रति द्वेष नहीं था। वे धार्मिक रूढ़िवाद से ऊपर उठकर सोचने और भारत के आध्यात्मिक गौरव एवं तत्व ज्ञान की अभिव्यक्ति उसके सामाजिक विचारों का मूल थी।[4] गोपाल कृष्ण गोखले ने भी अपने गुरू रानाडे की ही भांति देशवासियों के शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक विचारों पर पूरा जोर दिया।

---

1. एस० ए० वोतपंट, तिलक एण्ड गोखले, कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्कले 1961 पृ० 271
2. एस० ए० वोतपर्ट, वही, पृ० 272.
3. गाँधी : गोखले: मेरे राजनीतिक गुरू, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1955
4. आर० पी० परांजपे; गोपाल कृष्ण गोखले, आर्य भूषण प्रेस पूना, 1915, पृ० 28

गोखले ने तत्कालीन समस्याओं के निदान के सम्बन्ध में जो मार्ग अपनाया उसके मूल में दो धारणाएं कार्य कर रही थी। प्रथम, रानाडे की ही भाँति उनका भी यह विश्वास था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य ईश्वरीय विधान की योजना का ही एक अंग है और उसका उद्देश्य भारत को भारी लाभ पहुँचाना है। दूसरे, वह कठिन परिश्रम और त्याग के द्वारा राष्ट्रवाद की सुदृढ़ नींव स्थापित करना चाहते थे।[1]

गोखले राष्ट्रीय एकता के महत्व से भली भांति परिचित थे। अत: उन्होंने यह स्वीकार किया था कि राष्ट्रवाद एवम् राष्ट्रीय एकता के लिए एक पवित्र भावनात्मक संवेग आवश्यक है जिसका प्रबल उदय भारतीयों की सामाजिक क्षमता में वृद्धि और उनके नैतिक चरित्र में उत्थान से ही सम्भव हो सकता है। **गोखले ने कहा,** ''जिस संघर्ष में हम संलग्न है उसका वास्तविक नैतिक महत्व वर्तमान संस्थाओं के उस विशिष्ट पुनस्समंजन अथवा पुनर्गठन में नहीं है जिसे प्राप्त करने में हम सफल हो सके, उसका असली महत्व उस शक्ति में है जो हमें अपने जीवन के स्थायी अंग के रूप में उपलब्ध हो सकेगी। जनता का सम्पूर्ण जीवन उससे कहीं अधिक व्यापक और गम्भीर है जिसे शुद्ध राजनीतिक संस्थाएं प्रभावित कर पाती है। यदि हमारे उपाय, जैसे होने चाहिए वैसे हो तो असफलताएँ भी जनता के उस जीवन की समृद्ध बनाने में सहायक हो सकती है।[2]

गोखले भी भारत में राष्ट्रीय एकता एवम् उसके राजनैतिक उद्धार हेतु हिन्दू मुस्लिम एकता को आवश्यक मानते हैं। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता को राष्ट्र के लिए कल्याणकारी माना और स्वयं को ऐसे विवादों में नहीं आने दिया जिससे दोनों के मध्य कटुता की भावना उत्पन्न होती तथा दूसरों को भी ऐसा करने की सलाह देते थे, क्योंकि गोखले का यह दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू एवम् मुसलमानों में सहयोग की पर्याप्त भावना के अभाव में, एकराष्ट्र के रूप में भारत का कोई भविष्य नहीं

---

1. डॉ० वी० पी० वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तक, मैसर्स लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा - 1995 पृ० 220
2. डॉ० वी० पी० वर्मा, वही, पृ० 220

है।[1] वह दोनों जातियों से यह बार-बार निवेदन करते थे कि वे परस्पर सहिष्णुता एवम् आत्म संयम से कार्य करें एवम् परस्पर मतभेदों पर जोर देने के बजाय परस्पर में भी पूर्ण भावनाओं को जन्म दे। हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को धार्मिक एवम् राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से देखते हुये उन्होंने एक को दूसरे से निम्न या उच्च समझने की भावना का तिरस्कार किया। गोखले की यह मान्यता थी कि बहुसंख्यक जाति होने के नाते तथा शैक्षणिक दृष्टि से मुसलमानों से आगे होने के नाते हिन्दुओं का यह विशेष उत्तरदायित्व था कि वे एक सामान्य राष्ट्रीय भावना विकासित करने में अपने मुस्लिम भाइयों की सहायता करे, ऐसा वे मुसलमानों में उनकी जाति के विशेष हित के लिए शिक्षणात्मक तथा अन्य उपयोगी कार्य कर सकते हैं।[2]

जैसा कि इतिहास साक्षी है कि हिन्दू एवम् मुसलमानों के मध्य, पूर्व से एक बहुत चौड़ी खाई चली आ रही थी, जिसके फलस्वरूप उनके मध्य विरोधी वर्ग चेतना के जन्म एवम् प्रसार का अत्यधिक भय था। गोखले कोई भी ऐसा काम नहीं करना चाहते थे जिससे इस खाई में वृद्धि हो। यही कारण था कि गोखले ने तिलक द्वारा आयोजित गणपति तथा शिवाजी महोत्सवों के प्रति कोई रूचि नहीं दिखलायी। इससे जनता में उनकी लोकप्रियता में कमी अवश्य आयी किन्तु राष्ट्रीय एकता एवं देश सेवा के प्रति समर्पित उस महान आत्मा के लिये इसका कोइ विशेष महत्व नहीं था। **श्री के० नटराजन** ने 1929 में पूना में दिए गए एक भाषण में कहा था—"जहाँ तक धर्म की बात है, उनके जीवन की प्रारम्भिक अवधि के सम्बन्ध में तो यही कहा जाता है कि वह नास्तिवादी थे परन्तु जीवन के उत्तरकाल में उनके विचारों में उल्लेखनीय परिवर्तन हो गया था। गोखले मुझे कलकत्ता में अपने अध्यय कक्ष में ले गये और वहाँ अकस्मात मैनें एक 'पेपर वेट' उठा लिया--------उस पर मोटे-मोटे अक्षरों में "गाड इज लव" (प्रेम ही परमात्मा है) लिखा देखकर मेरे नेत्र विस्मय से भर

1. आर० पी० परांजपे, गोपाल कृष्ण गोखले, आर्य भूषण प्रेस पूना 1915, पृ० 82
2. आर० पी० परांजपे, गोपाल कृष्ण गोखले, आर्य भूषण प्रेस पूना 1915, पृ० 83

गए, मैंने आश्चर्य पूर्ण नेत्रों से गोखले की ओर देखा इस पर वह बोले कि अब मेरा यही मान्यता हो गई है।[1]

सर्वेन्ट ऑफ इण्डिया सोसाइटी—गोखले यथार्थ को समझने वाले राजनीतिज्ञ थे। अत: वह नैतिकता पर आधारित अपने राष्ट्रीय समीकरण के कार्य को स्थायी रूप देना चाहते थे। इस उद्देश्य से 1905 की 12 जून को उन्होंने "**सर्वेन्ट ऑफ इण्डिया सोसाइटी**" नामक संस्था की स्थापना की। सोसाइटी के संस्थापक का जीवन कष्टो, परिश्रम तथा दुखों का जीवन था। सोसाइटी के संविधान से उस जीवन का गम्भीर एवम् श्रेष्ठ आदर्शवाद प्रकट होता है। वे एकीकृत, शक्तिसम्पन्न तथा अभिनवीकृत भारत के आदर्श को ठोस रूप देना चाहते थे, और उनका विश्वास था कि ऐसा भारत त्याग, भक्ति और अध्यावसाय के आधार पर ही निर्मित किया जा सकता है।[2] सर्वेन्ट ऑफ इण्डिया सोसाइटी ऐसे लोगों को प्रशिक्षित करेगा जो धार्मिक भावना से देश के कार्य में संलग्न होने को तैयार होंगे, और संवैधानिक तरीकों से भारतीय जनता के सक्रीय हितों का परिवर्धन करने का प्रयत्न करेंगें। इसके सदस्य मुख्यत: इन कार्यों के लिए परिश्रम तता करेंगे।[3] —(1) उपदेश तथा उदाहरण के द्वारा देशवासियों में मातृभूमि के प्रति गम्भीर तथा उत्कृष्ट प्रेम उत्पन्न करना जिससे वे सेवा एवम् त्याग द्वारा अपने जीवन को सार्थक बनाने की कामना कर सके, (2) राजनीतिक शिक्षा तथा राजनीतिक आन्दोलन के कार्य करे संगठित करना और देश के सार्वजनिक जीवन को बल प्रदान करना, (3) विभिन्न सम्प्रदायों के मध्य प्रेम पूर्ण मद्भावना तथा सहयोग के सम्बन्ध बढ़ाना, (4) शैक्षिक आन्दोलनों, विशेपकर नारी शिक्षा, पिछड़े ये वर्गों की शिक्षा तथा औद्योगिक एवम् वैज्ञानिक शिक्षा के आन्दोलनों को सहायता देना, और (5) दलित जातियों का उद्धार।

---

1. टी० आर० देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, पृ० 259
2. डॉ० वी० पी० वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, मेसर्स लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा 3, 1975, पृ० 220
3. डॉ० वी० पी० वर्मा, वही०, पृ० 220

सर्वेन्ट ऑफ इण्डिया सोसाइटी के प्रत्येक सदस्य को सात संकल्प करने होते थे।[1] वह अपने विचारों में स्वदेश को सदैव सर्वोच्च स्थान देगा और उसकी सेवा में अपने सर्वोत्कृष्ट गुण निछावर कर देगा। देश सेवा करते समय वह व्यक्तिगत लाभ की ओर उन्मुख नहीं होगा: वह सभी भारतीयों को अपना भाई समझेगा और जाति अथवा समुदाय गत भेदभाव के बिना सभी के विकास के लिए काम करेगा; उसके लिए उसका परिवार हो तो उन लोगों के लिए सोसाइटी जो व्यवस्था कर पायेगी उसी से वह संतुष्ट रहेगा और अपने लिये अतिरिक्त कमाने में वह अपनी शक्ति का उपयोग बिल्कुल नहीं करेगा, वह पवित्र व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करेगा, किसी के साथ वह व्यक्तिगत झगड़ा नहीं करेगा और अंतिम बात यह है कि वह सोसाइटी के उद्देश्यों का सदैव ध्यान रखेगा और अधिकतम उत्साहपूर्वक उसके हितों का संरक्षण करेगा तथा ऐसा करते समय वह सोसाइटी का कार्य आगे बढ़ाने के लिए सभी संभव कार्य करेगा और ऐसा कोई कार्य कभी नहीं करेगा जो सोसाइटी के उद्देश्यों से मेल न रखता हो।[2] गोखले की मृत्यु के पश्चात् वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री ने सोसाइटी का कार्य भाती भांति चलाया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय एकता को विकसित करने के लिए राष्ट्र की सेवा की अपनी भावना को मूर्त रूप देने के लिए गोखले ने त्यागमय जीवन से ओत-प्रोत सदस्यों की सोसाइटी का निर्माण किया। यद्यपि कि गोखले राष्ट्रीय एकीकरण एवम् राष्ट्रीयता की भावना को भारत में प्रवाहित करना चाहते थे, तथापि एक यर्थाथवादी राजनीतिज्ञ की भांति उन्होंने उन समस्याओं की ओर से अपना ध्यान नहीं हटाया जो कि इस भावना के विकास को अवरुद्ध किए हुए थी। फिर भी उनकी यह मान्यता थी कि उन समस्याओं से परे एक एकीकृत समृद्ध भारत का निर्माण करना सम्भव है। अत: उन्होंने अपने प्रयत्न का गति प्रदान की। गोखले के अनुसार स्वतन्त्रता अथवा

---

1. टी० आर० देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, पब्लिकेशन्स डिवीजन, भारत सरकार नई दिल्ली, 1969, पृ० 114.
2. टी० आर० देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, पब्लिकेशन्स डिवीजन, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1969 पृ० 114

स्वराज्य का उतना महत्व नहीं था जितना भारतीयों में चारित्रिक मनोबल के उत्पन्न का था। नैतिक मूल्यों का निर्वाह कर भारत स्वत: स्वराज्य की ओर बढ़ सकता था।

स्वदेशी एवं बहिष्कार—गोखले की स्वदेशी धारणा बहुत ही व्यापक थी। स्वदेशी आन्दोलन उनके लिए एक देशभक्ति पूर्ण राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही प्रकार का आन्दोलन था। अधिक व्यावहारिक रूप में वह आर्थिक ही था। गोखले की धारणा थी कि भारत की मुख्य समस्या उत्पादन के लिए पूँजी और साहस की कमी की ओर यदि दूसरे देश का कोई व्यक्ति या संगठन भारत में उत्पादन वृद्धि के उद्देश्य से पूँजी और साहस लगाता हो तो उसे भी स्वदेशीवाद की ही संज्ञा दी जानी चाहिए।[1] गोखले भारत की तत्कालीन आर्थिक स्थिति से मुक्ति पाने के लिए प्रतिकूल आर्थिक शक्तियों से लोहा लेने के लिए लोगों को स्वदेशी का अवलम्बन लेने का संदेश दिया। भारत की तत्कालीन आर्थिक दशा ने गोखले को बहुत अधिक प्रभावित किया था। सरकार की प्रतिकूल आर्थिक नीतियों तथा सरकारी संरक्षण के अभाव में देशी उद्योग या तो समाप्त हो गये थे अथवा वे नई शक्तियों के दबाव के नीचे दम तोड़ रहे थे। देश मशीन निर्मित सस्ते विदेशी वस्तुओं से प्लावित था और भारत के लोग अधिक से अधिक देश के स्थायी उद्योग अर्थात् कृषि की ओर भाग रहे थे। देश का वार्षिक आर्थिक निकासी का कार्यक्रम लगातार चल रहा था जिसके कारण देशवासी निराशाजनक गरीबी का जीवन व्यतीत करन को बाध्य थे। इस समस्त आर्थिक समस्याओं से मुक्ति पाने हेतु गोखले तथा अन्य उदारवादियों ने जिस एक मात्र मार्ग का समर्थन किया वह था 'स्वदेशी का मार्ग' जसके द्वारा ही लोग प्रतिकूल आर्थिक शक्तियों से लोहा ले सकते थे।[2] गोखले के लिए स्वदेशी आन्दोलन एक आर्थिक आन्दोलन ही नहीं वरन् एक देशभक्ति पूर्ण राजनीतिक आन्दोलन भी था।

---

1. एम० ए० बुच०, राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इंडियन लिबरलिज्म फ्राम राममोहन राय टू गोखले, बड़ौदा 1938 पृ० 225
2. एम० ए० बुच, वही, पृ० 226.

स्वदेशी के सम्बन्ध में **गोखले ने कहा**—''परमोत्कृष्ट स्वदेशी में मातृभूमि के प्रति श्रद्धानुराग की जो भावना साकार है वह इतनी गहरी और इतनी तीव्र है कि उसके स्मरणामात्र से रोमांच हो जाता है और अपना स्पर्श तो व्यक्तिगत सीमाओं से बहुत ऊँचा उठा देता है।''[1] स्वदेशी का अभिप्राय था, पूर्ण रूप में अपने आप में स्वेदशी होना। इसका अर्थ हैं कि भारत के प्रत्येक बालक, वृद्ध, युवा के लिए राष्ट्रीय हित, विशेषकर आर्थिक हित सर्वोपरि है। इस अवधारणा का मूल तत्व प्रत्येक भारतीय से, भारत के हित के प्रति उचित देश भक्ति एवम् समर्पण की भावना की मांग है। अतः सर्वप्रथम, यह एक भावना है, कुछ नया करने की भावना तथा देश के जीवन में भारतीय राष्ट्रवाद की भावना का निर्माण करने का मार्ग है।[2]

गोखले के लिए स्वदेशी का अभिप्राय था मातृभूमि के प्रति उच्चकोटि का गम्भीर तथा व्यापक भक्तिमात्र। **1905 में उन्होंने वाराणसी कांग्रेस अधिवेशन में कहा :** ''मातृभूमि के प्रति भक्तिभाव, जो कि उच्चतम स्वदेशी में निहित है, एक इतना गहरा तथा भावनापूर्ण प्रभाव है जिसके विचार मात्र से ही पुलकित हो उठते हैं और जिसका वास्तविक स्पर्श हमें स्वयं अपने से ऊपर उठा देता है। सबसे बढ़कर भारत की आज यही आवश्यकता है कि देश प्रेम के इस धर्म का उपदेश, धनी एवम् निर्धन को, राजा एवम् किसान को, नगर में तथा गांव में, तब तक निरन्तर दिया जाय जब तक कि मातृभूमि की सेवा हमारा प्रधान भाव न बन जाय जैसा कि आज जापान में है।[3] गोखले ने इस संदर्भ में आगे कहा, किन्तु आन्दोलन का भौतिक पक्ष आर्थिक है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि बड़े पैमाने पर आत्मत्याग की प्रतिज्ञा; विदेशी वस्तुओं के त्याग की प्रतिज्ञ, कर लेने से हमारा एक महत्वपूर्ण उद्देश्य सिद्ध हो जाएगा, अर्थात, देश में उत्पादित वस्तुओं का उपभोग तत्काल हो सकेगा, और जब उनकी

---

1. टी० आर० दवगिरिकर—गोपाल कृष्ण गोखले, पृ० 160 161
2. एम० ए० बुच, राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इंडिया लिबर्टलिज्म फ्राम राम मोहन राय टू गोखले, बड़ौदा, 1938 पृ० 226.
3. स्पीचेज ऑफ गोखले, नटेसन, मद्रास 1920, पृ० 1114.

मांग पूर्ति से अधिक हो जाएगी तो उनके उत्पादन को सदा सर्वदा प्रोत्साहन मिलता रहेगा किन्तु आर्थिक क्षेत्र में कठिनाइयाँ इतनी अधिक है कि उन पर विजय पाने के लिए सभी उपलब्ध साधनों के सहयोग की आवश्यकता है।[1]

गोखले ने स्वदेशह आन्दोलन का समर्थन किया गोखले ने चार ऐसे तरीकों को सुझाया, जिनसे स्वदेशी आन्दोलन का विस्तार एवम् प्रसार सम्भव हो सकता है—सर्वप्रथम स्वेदशी आन्दोलन के विस्तार हेतु यह आवश्यक था कि भारत एवम् विश्व की आर्थिक अवस्था का विस्तृत ज्ञान तथा उन तरीकों का जिनके द्वारा भारत स्वयं अपने ही साधनों द्वारा अपने आर्थिक हितों में वृद्धि कर सके, का प्रचार किया जाय। दूसरे, भारतीय उद्योगपति, चाहे वे बड़े हों अथवा छोटे, भारतीय उद्योगों को अपने मूल्यवान वित्तीय सहायता द्वारा स्वदेशी आन्दोलन और औद्योगिक शिक्षा के विस्तार से भी स्वदेशी आन्दोलन को व्यापक आधार प्राप्त हो सकता है, किन्तु ये तीनों ऐसे है जिसमें कुछ विशेष प्रकार के लोग ही सहायक हो सकते हैं। लेकिन चौथा तरीका वह है जो कि सभी भारतीयों के लिए खुला है; और वही वह एक मात्र तरीका है जिसके द्वारा सभी भारतीय स्वदेशी आन्दोलन को व्यापाक आधार प्रदान करने में सहायक हो सकते हैं। यह है, जितना अधिक सम्भव हो सके अपने देश में निर्मित वस्तुओं का प्रयोग करे, और दूसरों को भी इसी प्रकार आचरण करने का उपदेश दे।[2]

गोखले की दृष्टि में स्वदेशी आन्दोलन का मार्ग ही वह सर्वोपरि क्षेत्र है जहाँ पर प्रत्येक भारतवासी कुछ कर सकता है। यहाँ पर प्रत्येक स्वतंत्र इच्छा से त्याग कर सकता है वह त्याग, जो कि उन्हें, अपने मातृभूमि के प्रति अपने स्नेह एवं सम्मान प्रदर्शित करने का एक अवसर प्रदान करता है। उनकी यह धारणा थी कि एक अशिक्षित भारतीय के लिए भारत की राजनैतिक समस्याओं की जटिलता को समझ पाना बहुत कठिन होगा, किन्तु यदि उनसे यह कहा जाय कि वे स्वदेशी

---

1. स्पीचेज ऑफ गोखले, वही, पृ० 1114.
2. स्पीचेज ऑफ गोखले, वही, पृ० 1131.

वस्तुओं के प्रयोग द्वारा, अपने देश का धन अपने देश में ही रोक कर देश की निर्धनता का निवारण या उसमें सुधार कर सकते हैं, तो इसे वे शीघ्र ही समझ जाएँगें।[1]

गोखले का विश्वास था कि स्वदेशी आन्दोल उन्तत: भारत के उद्धार का एक महत्वपूर्ण साधन हो सकता है। उन्होंने कहा; ''स्वदेशी आन्दोलन यहाँ पर स्थायी रूप से रूकेगा। हमने ऐसे भी आन्दोलन देखे हैं जो कुछ समय के लिए प्रकाश में आये और अपना कोई स्थायी प्रभाव छोड़े बिना लुप्त हो गए। मैं सोचता हूँ कि यह कहना सुरक्षित होगा कि स्वदेशी आन्दोलन उस प्रकार से लुप्त होने वाला नहीं है, और मेरी व्यक्तिगत मान्यता यह है कि अनतत: इस आन्दोलन के माध्यम से हम भारत का उद्धार अवश्य कर सकेंगे।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोखले की स्वदेशी की धारणा बहुत व्यापक थी। रानाडे की भाँति उनका भी विचार था कि देश में मुख्य समस्या उत्पादन की थी और उसके लिए पूँजी तथा साहसिकता की आवश्यकता थी। भारत में इन चीजों का अभाव था इसलिए जो कोई योग देता वह सचमुच स्वदेशी हेतु कार्य कर रहा था। जहाँ तक सूती वस्त्रों का सम्बन्ध था मुक्त व्यापार का बड़े से बड़ा समर्थक भी देश में उनके उत्पादन को प्रोत्साहन देने पर आपत्ति नहीं कर सकता था, क्योंकि सूती माल के उत्पादन हेतु भारत में सस्ते श्रम एवं कपास का बाहुल्य था।[3] किन्तु स्वदेशी के समर्थक होते भी गोखले ने बहिष्कार के उग्र अस्त्र के प्रयोग की अनुमति नहीं दी।

गोखले ने स्वदेशी का व्यापक समर्थन किया लेकिन वह बहिष्कार के उग्र अस्त्र के प्रयोग के समर्थक नहीं थे। स्वदेशी, बहिष्कार से भिन्न आन्दोलन था। गोखले तथा अन्य उदारवादियों ने यह

---

1. स्पीचेज ऑफ गोखले, नटेसन, मद्रास 1920 पृ०1132.
2. स्पीचेज ऑफ गोखले, नटेसन मद्रास 1920 पृ० 1114.
3. वर्मा वी० पी०, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, मैसर्स लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा 1975, पृ० 221.

अवश्य स्वीकार किया कि विदेशी या ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार, कोई अन्य विकल्प न रहने पर ही किया जाना चाहिए।[1] गोखले ने कहा था; "बहिष्कार एक ऐसा शस्त्र है, जिसका प्रयोग अन्य कोई विकल्प न रहने पर ही किया जाना न्ययोचित हो सकता है, किन्तु ऐसे अवसरों पर इसका प्रयोग समान के सभी वर्गों के द्वारा होना चाहिए जैसा कि बंगाल मं हुआ। इसका प्रयोग करने से पूर्व यह आवश्यक है कि सभी ओर एक सामान्य संकट का अनुभव किया जाय और सभी व्यक्तिगत मतभेद दूर कर लिए जायँ।[2]

गोखले तथा अन्य उदारवादियों द्वारा बहिष्कार आन्दोलन की अस्वीकृति के कुछ कारण इस प्रकार से थे। गोखले की यह मान्यता थी कि, बहिष्कार आन्दोलन का आधार किसी एक राष्ट्र के जाति स्नेहाभाव नहीं अपितु विदेशियों के प्रति घृणा का भाव था। इसका उद्देश्य था दूसरों को दुखी करना। इसके द्वारा दोनों पक्षों में आक्रोश की भावना का उदय पूर्णरूपेण सम्भव था तथा यह आन्दोलन दो राष्ट्रों के लोगों के मध्य सामान्य सम्बन्धों के लिए हानिकर था। ऐसी स्थिति में बहिष्कार भारतीय हितों के संदर्भ में खतरनाक सिद्ध हो सकता था। दूसरे, इस शस्त्र के असफल होने की बहुत अधिक सम्भावना थी; और यह शस्त्र पर्याप्त प्रभावकारी ढंग से प्रयोग में नहीं लाया जा सकता था, क्योंकि इसके लिए अत्यधिक जनसमर्थन आवश्यक था, किन्तु इस प्रकार की भावनाओं की प्रकृति एक लम्बी अवधि तक स्थिर रहने की नहीं होती, अत: बहिष्कार की असफलता आवश्यक थी। तीसरे इसका प्रयोग हम सम्पूर्ण विश्व के विरुद्ध नहीं कर सकते, और यदि यह केवल ब्रिटेन के सामने तक ही सीमित रखा जाता, तो हम अन्य विदेशी देशों की वस्तुओं को क्रय करने के लिए स्वतंत्र थे, इससे भारतीय उद्योगों की उपलब्धि सम्भव नहीं थी। चौथे, बहिष्कार तमाम ऐसी अभारतीय वस्तुओं के लिए द्वार बन्द कर देना था जिनका हम अपनी तत्कालीन आर्थिक स्थिति में

1. आर० पी० परांजपे, गोपाल कृष्ण गोखले, आर्य भूषण प्रेस, पूना 1915 पृ० 82
2. आर० पी० परांजपे, वही, पृ० 83

उत्पन्न ही नहीं कर सकते थे। पाँचवे, विदेशी समानों का उग्र बहिष्कार हमारी तत्कालीन औद्योगिक दशाओं में किसी भी दशा में व्यवहारिक नहीं था।[1]

इस परिस्थितियों में स्वदेशी अनिर्वायत: एक सर्वोत्कृष्ट विरोध का साधन था। राजनीतिक दृष्टि से यह आनन्द प्रदान करने वाला था। आर्थिक दृष्टिकोण से यह सावधानीपूर्वक, भारत में उत्पादित एवं तत्कालीन भारत की आर्थिक स्थिति में भारत में उत्पादित न हो सकने वाली वस्तुओं के मध्य विभाजन रेखा खींचने वाला था। नैतिक दृष्टि से यह एक सृजनात्मक शक्ति थी, जबकि बहिष्कार एक नकारात्मक एवं ध्वंसात्मक आन्दोलन था। **गोखले के शब्दों में**, ''इस सम्पूर्ण विचारधारा का मूल मंत्र स्वदेश है, स्वतंत्र इच्छा से अपने राष्ट्र के प्रति त्याग की भावना को जन्म देने वाला, तथा अपने देश की आर्थिक प्रगति में रूचि रखने हेतु प्रोत्साहित करने वाला तथा राष्ट्रीय लक्ष्य के लिए परस्पर सहयोग की शिक्षा देने वाला आन्दोलन है।[2] उनकी यह धारणा थी कि आर्थिक बहिष्कार की नीति द्वारा विदेशी राजनीतिक नियन्त्रण की मात्रा में कमी नहीं आ सकती। इसी प्रकार से स्कूलों तथा कॉलेजों के बहिष्कार का कार्य भी राष्ट्रीय शिक्षा की वृद्धि के स्थान पर उसकी प्रगति को धीमा करेगा। सरकारी नौकरियों के बहिष्कार के सन्दर्भ में गोखले का यह विचार था कि नौकरियों का बहिष्कार तब सफल हो सकता था जबकि सरकारी काम के लिए एक भी व्यक्ति अपने आपकों प्रस्तुत न करे। जहाँ शिक्षित बेकारी की इतनी बड़ी संख्या हो वहाँ नौकरियों का बहिष्कार सफल नहीं हो सकता था। विधान परिषदों तथा नगरपालिकाओं के सदस्यों द्वारा त्यागपत्र देकर बहिष्कार का मार्ग अपनाता भी अनुचित है। अत: गोखले ने पूर्ण बहिष्कार के स्थान पर कर न देने का आन्दोलन चलाये जाने पर बल दिया।[3]

---

1. एम० ए० बुच-राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इंडियन लिवरल्जिम, फ्राम राममोहन राय टु गोखले बड़ौदा 1938-पृ० 232.
2. स्पीचंज ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, नटेसन, मद्रास 1920 पृ० 82.
3. स्पीचेज ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, वही, पृ० 956.

प्रशासनिक सुधार—गोखले के राजनीतिक विचारों का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक उनके द्वारा भारत की राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्थिति को सुधारने सम्बन्धी उनके प्रमुख सुझावों पर दृष्टिपात न किया जाय।

गोखले तत्कालीन ब्रिटिश भारत की प्रशासकीय अव्यवस्था के अत्यधिक क्षुब्ध थे। वह भारत की प्रशासकीय व्यवस्था में प्रत्येक स्तर पर सुधार के समर्थक थे। प्रशासनिक अव्यवस्था से देश के अन्दर, विशेषकर शिक्षित वर्ग में जो असंतोष बढ़ रहा था, वह अन्तत: ब्रिटिश सत्ता के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता था और चूँकि गोखले ऐसा नहीं चाहते थे, अत: उन्होंने सरकार से तत्काल इस सन्दर्भ में प्रभावकारी कदम उठाने का अनुरोध किया। उन्होंने ब्रिटिश सरकार पर भारत के नैतिक एवं भौतिक उत्थान हेतु सुधारात्मक कदम उठाने के लिए दबाव डाला। गोखले ने अपने बजट भाषणों में प्रशासन सम्बन्धी सरकार की नीतियों के दोषों पर प्रकाश डालते हुए अपने रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत किया।[1]

गोखले ने शासन के विकेन्द्रीकरण की संभावनाओं का पता लगाने वाले हॉवहाऊस कमीशन (1908) के समक्ष अपने साक्ष्य में यह व्यक्त किया कि उच्च प्रशासनिक स्तर पर सत्ता का केन्द्रीकरण समाप्त होना चाहिए। प्रशासनिक सेवाओं की मनमानी रोककर जनता को शासन से सम्बन्धित करने के लिए गोखले ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का सुझाव प्रस्तुत किया था।[2] वे प्रान्तीय मामलों में प्रशासन पर जनता का उचित नियंत्रण चाहते थे। उन्होंने तीन प्रमुख प्रशासनिक आवश्यकताओं पर बल दिया। प्रथम, सभी महत्वपूर्ण प्रान्तों में इंग्लैण्ड द्वारा मनोनीत गर्वनर नियुक्त किये जायँ तथा उनकी सहायता के लिए ऐसी कार्यकारी परिषद नियुक्त किये जाये जिसके तीन या चार सदस्य हों। द्वितीय प्रान्तीय विधायी परिषद का विस्तार कर उसे अधिक प्रतिनिधि मूलक बनाया जाय। सदस्यों को

---

1. ए० अप्पादोराई, इण्डियन पोलिटिकल थिंकिंग, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता 1972.
2. आर० पी० परांजपे, गोपाल कृष्ण गोखले, आर्य भूषण प्रेस पूना, 1915 पृ० 57

बजट पर विचार-विमर्श करने तथा संशोधन प्रस्तुत करने का अधिकार होना चाहिए। तृतीय निर्वाचित सदस्यों की मांग पर परिषद का विशेष अधिवेशन बुलाये जाने की व्यवस्था की जाय। इसके अलावा गोखले ने वित्तीय क्षेत्र में साम्राज्यीय एवं प्रान्तीय प्रश्नों को स्पष्ट करने तथा दोनों में आय-व्यय का समावेश करने का सुझाव दिया था।[1] ऋण की व्यवस्था करने का दायित्व केवल केन्द्र पर छोड़ दिया जाय और कार्मिक प्रशासन पर भी केन्द्र का नियंत्रण स्वीकार किया। किन्तु वे स्थानीय स्वशासन को बाह्य नियंत्रण एवं हस्तक्षेप से मुक्त रखना चाहते थे। वे केन्द्रीय सरकार की प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, मुद्रा, आबकारी, डाक-तार, रेल तथा कर एवं व्यवस्थापन का अधिकार सौंपकर अन्य विभागों का दायित्व प्रान्तीय सरकारों को सौंपने के पक्ष में।[2]

जिला स्तर पर गोखले ने प्रशासन से जनप्रतिनिधियों को संयुक्त करने का सुझाव दिया। वे जिलाधीश की सर्वोच्च स्थिति के आलोचक थे। जिलाधीश की सहायता के लिए जिला-परिषदों का निर्माण उन्होंने सुझाया। वे स्थानीय स्वशासन को पूर्ण स्वायत्ता देने के पक्ष में थे ताकि उनके कार्यो में प्रशासकीय तथा वित्तीय हस्तक्षेप न किया जाय।[3] गोखले भारत में पंचायती राज व्यवस्था की पुनः स्थापना के पक्ष में थे। वे पंचायतों को स्थानीय प्रशासन एवं साधारण न्यायिक कार्य सौंपना चाहते थे। ताकि स्थानीय स्वायत्ता का बोध हो सके। पंचायतों को अपने आर्थिक साधन जुटाने के साथ-साथ तालुका बोर्ड से आर्थिक सहायता दी जाने का सुझाव भी उन्होंने दिया था। उनके अनुसार तालुका बोर्ड में अधिक से अधिक जन प्रतिनिधियों को मनोनीत करने तथा वित्तीय स्वायत्तता दी जानी चाहिए। वे नगर महापालिकाओं के स्वतंत्र निर्वाचन कराये जाने के पक्षधर थे। जिला बोर्ड की अध्यक्षता का एकमात्र अधिकार जिलाधीश में न रखकर गोखले ने उसके स्थान पर किसी सम्मानीय

1. डी० वी० माथुर गोखले ए पोलिटिकल बायोग्राफी, मानकालज, बम्बई 1966 पृ० 56.
2. डी० वी० माथुर, वही, पृ० 57
3 डी० वी० माथुर, वही, पृ० 58

व्यक्ति की नियुक्ति का सुझाव दिया। यदि ऐसा व्यक्ति प्राप्त न हो सके तो फिर जिलाधीश को ही यह कार्य सौंपने का सुझाव दिया। वे जिला बोर्ड में निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ाने के पक्ष में थे। वे जिला प्रशासन से गोपनीयता, नौंकरशाही की वृत्ति तथा विभागीय विलम्ब की मनोवृत्ति को दूर करवाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने जिला परिपद नियुक्त करने का सुझाव दिया। जिला प्रशासन में जिलाधीश को लोकतांत्रिक तौर तरीके तथा समय के साथ परिवर्तित होने वाली विचारधारा से युक्त करना चाहते थे। प्रशासकों के मनमाने आचरण तथा एकतंत्रवादी रवैये को परिवर्तित करने के लिए गोखले ने उपयुर्क्त सुझावों के द्वारा लोकतंत्रिक विकेन्द्रीकरण की बुनियाद रखी।[1]

गोखले ने प्रशासनिक सुधारों की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया जिसमें सेवाओं के 'भारतीयकरण' की समस्या प्रमुख थी। गोखले ने प्रशासन में अधिक से अधिक भारतीयों की भागीदारी की ओर ध्यान आकृष्ट किया। भारतीय सिविल सेवा संवर्ग एवं उसमें की जाने वाली भर्ती आदि के विरुद्ध बहुत समय से शिकायते चली आ रही थीं। 1833 की नियमावली एवं 1858 के ब्रिटिश रानी की घोषणा द्वारा भारतीयों के बिना किसी भेदभाव के लोक सेवा में ऊँचे-ऊँचे पदो तक पहुँचने के अधिकार को मान्यता दी गई, किन्तु ये घोपणाएँ मात्र घोपणा ही रह गयी इनको लागू करने में कोई रूचि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने नहीं दिखलाई। गोखले सरकार की इस उदासीनता से क्षुब्ध होकर इन उद्घोपणाओं को विश्वासघात की संज्ञा दी और कहा: "1833 की नियमावली एवं 1858 की घोपणा इतनी स्पष्ट है कि जो लोग, घोपणा के समय इनका श्रेय ले रहे थे, उन्हें वर्तमान परिस्थितियों में इन विश्वासघात से उत्पन्न कष्टदायी स्थिति का सामना करने तथा यह स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए कि, इन वादों की घोपणा करते समय ब्रिटिश सरकार निष्ठा पर नहीं थी और उसे अब हमारे विश्वास को खोने के लिए तैयार रहना चाहिए।[2] गोखले ने लोक सेवाओं में

1. डी० वी० माथुर गोखले ए पोलिटिकल बायोग्राफी, मानकालाज, बम्बइ १९६६ पृ० ७४
2. एम० ए० बुच, राइज एड ग्रोथ ऑफ इंडियन लिबरलिज्म, बड़ौदा १९३८ पृ० 201.

सम्मिलित होने की आयु सीमा को बढ़ाने तथा इंग्लैण्ड के साथ ही साथ उनका आयोजन भारत में भी किये जाने की मांग की।

गोपाल कृष्ण गोखले इस मान्यता पर बल देते थे कि ब्रिटिश सत्ता ही, भारत के सन्दर्भ में, भारतीयों को बड़े पैमाने पर प्रशासनिक कार्यों में भागीदारी पर निर्भर करेगी। इस दिशा में एक विस्तृत आन्दोलन चलाया जाना चाहिए। यदि इस दिशा में बढ़ते हुए असंतोष एवं आक्रोश का नियंत्रित करना है, तो यह पूर्ण अनिवार्य था कि सरकार को विदेशी संस्थाओं के स्थान पर भारतीयों को नियुक्त करने की प्रगतिवादी नीति को व्यवहार में लाना होगा।[1] गोखले ने कहा; ''हमारी नम्र राय में, वर्तमान परिस्थितियों में, जो प्रश्न सभी प्रश्नों से महत्वपूर्ण है, वह यह है कि इस देश के लोगों को किस प्रकार से उनके स्वयं के मामलों में प्रशासन में भागीदारी दी जा सकती है, जिससे कि उनमें उत्पन्न हो रहे असंतोष को नियंत्रित किया जा सके, और जबकि एक तरफ उनके आत्मसम्मान की संतुष्टि होगी, दूसरी तरफ उनमें और साम्राज्य के मध्य संयोग शक्तिशाली होगा। अंग्रेज लोग जो कि यह सोचते है कि भारत को एक लम्बे समय तक इसी तरह से नियंत्रित किया जा सकता है जैसा कि वह अतीत में था, और ऐसे भारतीय जो कि साम्राज्य से बाहर अपने देश की स्वायत्तता की बात सोचते हैं दोनों ही वर्तमान स्थिति की वास्तविकताओं का अपूर्ण ज्ञान रखते है।[2]

ब्रिटिश नैकरशाही की त्रुटिपूर्ण व्यवस्था की ओर संकेत करते हुए गोखले ने 1905 में लन्दन के न्यू रिर्फाम क्लब के भाषण में त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित किया था।[3] प्रथम यह व्यवस्था अत्यधिक केन्द्रीकृत है और चूँकि शीर्ष के अधिकारी देश में केवल थोड़े समय के लिए भेजे जाते है, अतः वे जनता की समस्याओं, आकांक्षाओं तथा अभिरूचियों को भली भांति नहीं सहझ पाते है।

1. बुच, वही पृ० 202.
2. गोखले स्पीचेज एण्ड राइटिंग पृ० 169-170
3. ए० अप्पादोराई, इण्डियन पोलिटिकल थिंकिंग, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता 1974 पृ० 3.

द्वितीय, भारतीय शिक्षित वर्ग को सत्ता से बाहर रखना असंतोषजनक है तथा तृतीय अधिकारी प्रत्येक प्रश्न पर अपनी सत्ता बनाए रखने की दृष्टि से अपनी सत्ता के हितों की दृष्टि से विचार करते है, तथा लोगों के हितों को गौण सझते है।

प्रशासनिक सुधारों की दृष्टि से गोखले ने वाराणसी कांग्रेस के अधिवेशन में 9 मांग प्रस्तुत की।[1] (1) विधान परिषदों का सुधार, और उसके लिए निर्वाचित सदस्यों का अनुपात बढ़ा कर आधा कर दिया जाय तथा ऐसी व्यवस्था की जाय कि बजट परिषदों द्वारा ही पारित किए जाए, (2) इण्डिया कौंसिल में कम से कम तीन भारतीय सदस्य नियुक्त किए जायँ; (3) देश की सभी जिलों में सलाहकार परिषदों की रचना की जाय; और जिलाधीश प्रशासन के महत्वपूर्ण मामलों में अनिवार्य रूप से इन परिषदों की राय ले; (4) भारतीय लोक सेवाओं की न्यायिक शरण के लिए नियुक्तियां वकील वर्ग में से की जाय; (5) न्यायिक तथा कार्यपालक विभागों का पृथक्करण; (6) भारी सैनिक व्यय में कटौती; (7) प्राथमिक शिक्षा का प्रसार; (8) औद्योगिक तथा तकनीकी शिक्षा का वकास तथा प्रसार; और देहाती जनता को ऋण के बोझ से राहत देना।[2]

ये मांगे भारतीय उग्रवादियों के राजनीतिक दर्शन का सारांश प्रकट करती है। **टी. आर. देवगिरिकर के अनुसार**—"शासन तन्त्र के विरुद्ध युद्ध करते समय गोखले ने वैधानिक मार्ग अपनाया। उनका प्रयास यह था कि तथ्यों तथा तर्कों को अपनी बात का आधार बनाया जाए और समझा बुझाकर उन लोगों के विचार बदले जाय जिसका कुछ महत्व है।"

स्वशासन की धारण— अपने समकालीन उदारवादी नेताओं की भांति गोखले भी भारत के लिए स्वाशासन ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत चाहते थे। ब्रिटिश शासन उनकी दृष्टि में एक ईश्वरीय देन

---

1. गोखले का वारणसी में कांग्रेस अध्यक्षीय पद से भाषण. पट्टाभि सीतारमैय्या. कांग्रेस का इतिहास पृ० 22
2. गोखले का वाराणसी में कांग्रेस अध्यक्षीय पद से भाषण. पट्टाभि सीतारमैय्या. कांग्रेस का इतिहास. पृ. 23।

था,[1] अत: उससे पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद भारतीयों के लिए कल्याणकारी नहीं था। उनकी यह मान्यता थी कि अंग्रेज नौकरशाही के कारण प्रशासन में जो आर्थिक, राजनैतिक एवम् नैतिक बुराइयाँ आ गयी हैं उनके निराकरण का एक मात्र उपाय स्वशासन ही है। उनके अनुसार स्वशासन का अर्थ है—''ब्रिटिश अभिकरण के स्थान पर भारतीय अभिकरण को प्रतिष्ठित करना, विधान परिषदों का विस्तार और सुधार करते-करते उन्हें वास्तविक निकाय बना देना और जनता को सामान्यत: अपने मामलों का प्रबन्ध स्वयं करने देना।''[2]

1905 में बनारस कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण में गोखले ने कहा—''कांग्रेस का लक्ष्य यह है कि भारत भारतीयों के हितों को ध्यान में रखते हुए प्रशासित होना चाहिए। एक निश्चित समयावधि में भारत में ऐसी ही सरकार गठित हो जानी चाहिए जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य की अन्य स्वशासित उपनिवेशों की सरकार है।[3]

गोखले ने स्वशासन को एक भावनात्मक आवश्यकता और नैतिक तथा राजनैतिक उपलब्धि माना। 1907 में इलाहाबाद में दिए गए अपने एक भाषण में उन्होंने कहा—''मेरी आकांक्षा है कि मेरे देशवासियों की स्थिति अपने देश में वैसी ही हो जैसी कि अन्य लोगों की अपने देश में है। मैं जाति या सम्प्रदाय के भेदभाव से परे प्रत्येक नर-नारी के पूर्ण विजय का समर्थक हूँ। मैं चाहता हूँ कि उन पर किसी प्रकार के अप्राकृतिक प्रतिबन्ध न लगाए जाएँ। मैं चाहता हूँ कि भारत विश्व के महान राज्यों में राजनीतिक, औद्योगिक, आर्थिक, साहित्यिक वैज्ञानिक और कला के क्षेत्र में अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण करे। मेरी आकांक्षा यही है कि ये सभी अपनी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही प्राप्त

---

1. टी. वी. पर्वते—गोपाल कृष्ण गोखले, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस अहमदाबाद. 1959 पृ. 456।
2. वही पृष्ठ—45८
3. गोखले का बनारस में कांग्रेस अध्यक्षीय भाषण—पट्टाभि सीतारमैया, कांग्रेस का इतिहास पृष्ठ 22–23।

हो।''[1] स्वशासन के सम्बन्ध में गोखले ने जो विचार व्यक्त किए उनके अनुसार स्वशासन में निम्न बातों को अवश्य सम्मिलित होनी चाहिए—(1) इंग्लैण्ड में होने वाली सभी परीक्षाएं भारत में हो और सभी ऊँची नियुक्तियाँ जो भारत में की जाती है, प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के आधार पर हों। (2) भारतीयों को भारत मंत्री की सभा में, वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में तथा बम्बई और मद्रास के गवर्नरों की विधान परिषदों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिले। (3) सर्वोच्च एवं प्रान्तीय विधान परिषदों का विस्तार हो, उनमें जनता को वास्तविक ढंग से प्रभावकारी प्रतिनिधित्व दिया जाए, एवं देश के वित्तीय तथा कार्यकारी प्रशासन पर जनता का अधिक नियन्त्रण हो। (4) स्थानीय स्वायत्त सस्थाओं और नगरपालिकाओं की शक्तियों में वृद्धि की जाए तथा उनमें सरकारी हस्तक्षेप और नियन्त्रण इंग्लैण्ड में स्थानीय स्वशासी बोर्ड द्वारा इसी तरह के निकायों पर लागू किए जाने से अधिक न हो।[2]

गोखले ने स्वशासन के सम्बन्ध में यह मौलिक सुझाव और दिया कि मद्रास, बम्बई, बंगाल, उत्तर पश्चिमी प्रान्त, पंजाब और बर्मा की विधान परिषदों को यह अधिकार दे दिया जाय कि वे अपने निर्वाचित सदस्यों में से चुनकर एक-एक प्रतिनिधि ब्रिटिश पार्लियामेंट भेजें।[3]

राजनीति का आध्यात्मीकरण—गोखले की नैतिक एवं आध्यात्मिक आत्म चेतना उनके राजनीतिक विचारों की मूल प्रेरणा थी। उन्होंने साधन पर साध्य से अधिक जोर दिया। उन्हें भय था कि यदि साधनों की पवित्र और चरित्र की उत्कृष्टता में विश्वास रखा न गया तो भारीतय अपनी

---

1. टी. वी. पर्वते—गोपाल कृष्ण गोखले नवजीवन पब्लिशिंग हाउस अहमदाबाद 1959 पृ. 457।
2. गोखले का वाराणसी कांग्रेस अधिवेशन में अध्यक्ष पद से भाषण पट्टाभि सीता रमैया. प्रकाशक सस्ता साहित्य मण्डल दिल्ली पृ. 82।
3. टी. आर. देवगिरिकर गोपाल कृष्ण गोखले. आधुनिक भारत के निर्माता. पब्लिकेशन्स डिवीजन. भारत सरकार. नई दिल्ली. 1969. पृ. 54।

समस्याओं का सन्तोषजनक समाधान नहीं कर सकेंगें और उन्हें भविष्य में जो स्वशासन या स्वराज्य प्राप्त होगा, उसका भी सुन्दर फल वे नहीं चख सकेंगे।[1] उनकी मान्यता थी कि धर्म को राजनीति का आधार होना चाहिए अत: चरित्र निर्माण पर हमें सबसे अधिक जोर देना चाहिए। उनका यह विश्वास था कि राजनीति लोक सेवा का साधन तभी हो सकती है जबकि उसका आध्यात्मीकरण कर दिया जाय।[2] सर्वेन्ट आफ इण्डियन सोसाइटी की स्थापना के पीछे ही मुख्य उद्देश्य राजनीति और धर्म का समन्वय करना था। वह यह अनुभव करते थे कि यदि जनता का नैतिक चरित्र उत्कृष्ट न हुआ तो स्वयं स्वराज्य भी हमारे समस्त रोगों के लिए औषधि स्वरूप नहीं हो सकता, और वह यह भी मानते थे कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के पूर्व किसी राष्ट्र को उसकी पात्रता सिद्ध करनी चाहिए।[3] वास्तव में अपने देशवासियों की नैतिक कमजोरी का ज्ञान ही उन्हें ब्रिटिश उदारवादियों की अधिकाधिक सहायता एवम् सलाह के लिए बाध्य किया।

सार्वजनिक जीवन के आध्यात्मीकरण की गोखले की धारणा का अभिप्राय समझते हुए **गांधी जी ने लिखा है**—"हम सभी द्वारा साहस सत्यवादिता, संतोष, विनम्रता, न्यायप्रियता, निष्कपटता तथा धैर्य सरीखे सद्‌गुणों को अपने अन्दर विकसित करना और उन्हें राष्ट्र को अर्पित करना, गोखले के सार्वजनिक जीवन के आध्यात्मीकरण की बात कहने का यही आशय था। यह एक भक्त की भावना है।"[4] गोखले की इस आध्यात्मिक एवम् धार्मिक प्रवृत्ति के कारण ही गांधी जी ने उन्हें अपना राजनीतिक गुरू कहा था। **गांधी जी आगे कहते हैं कि**—"श्री गोखले ने हमें सिखाया है कि अपने देश से प्यार करने का दम भरने वाले प्रत्येक भारतीय का स्वरूप यह होना चाहिए कि शब्द वैभव में

---

1. आर. पी. परांजपे, गोपाल कृष्ण गोखले, आर्य भूषण प्रेस पूना 1915 पृ. 85।
2. आर. पी. परांजपे, गोपाल कृष्ण गोखले, आर्य भूषण प्रेस पूना 1915 पृ. 85।
3. डी. वी. माथुर, गोखले ए पोलिटिकल बायोग्राफी, मानकालाज बम्बई 1966 पृ. 66।
4. गांधी जी गोखले मेरे राजनीतिक गुरू, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद 1955 पृ. 213।

ग्रस्त न होकर इस देश के राजनीतिक जीवन का आध्यात्मीकरण किया जाय। उन्होंने मेरे जीवन को प्रभावित एवम् प्रेरित किया और आज भी कर रहे हैं, इसी नाते मैं अपने को पवित्र बनाना चाहता हूँ और अपना आध्यात्मीकरण करना चाहता हूँ। इस आदर्श के प्रति मैंने अपने को समर्पित कर दिया है।''[1]

गोखले का व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन समान रूप से नैतिक मापदण्डों पर आधारित रहा।

गोखले का राजनीतिक वसीयतनामा

अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व गोपाल कृष्ण गोखले ने लार्ड विलिंगटन के आग्रह पर भावी भारत की व्यवस्था के सम्बन्ध में एक योजना तैयार की थी जो प्रान्तीय स्वायत्ता के नाम पर उनका 'राजनीतिक वसीयतनामा' ही है। यह वसीयतनाता गोखले के चिन्तन का एक उज्जवल पक्ष है, उनकी बौद्धिक गरिमा और राजनीतिक प्रतिभा का सुन्दर नमूना है। इस वसीयतनामे को प्रख्यात विद्वान श्री त्रयम्बक रघुनाथ देवगिरीकर ने निम्नवत् प्रस्तुत किया है।[2]

(यह वसीयतनामा गोखले के ही शब्दों में है)—

''दिल्ली भेजे गए पत्र में जो प्रान्तीय स्वायत्तता देने का पूर्व संकेत विद्यमान था उसे युद्ध की समाप्ति पर भारत के लोगों को दी जाने वाली उपयुक्त सुविधा माना जा सकता है। इससे एक दोहरी प्रक्रिया होगी अर्थात् एक ओर तो प्रान्तीय सरकारें उस नियंत्रण से काफी हद तक मुक्त हो जाएंगी जो देश के आन्तरिक प्रशासन के सम्बन्ध में उनके ऊपर भारत सरकार और भारत मंत्री द्वारा रखा जा रहा है, और दूसरी ओर इस प्रकार होने वाले नियन्त्रण के स्थान पर प्रान्तीय विधान परिषदों के

---

1. गांधी जी गोखले मेरे राजनीतिक गुरू, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1955 पृ. 43।
2. टी. आर. देवगिरिकर गोपाल कृष्ण गोखले, प्रकाशन विभाग, दिल्ली 1967 पृ. 289।

माध्यम से करदाताओं के प्रतिनिधियों का नियंत्रण हो जाएगा। इस विचार को कार्यरूप देने के लिए विभिन्न प्रान्तों में किस तरह के प्रशासन की स्थापना आवश्यक होगी, उसकी संक्षिप्त रूपरेखा मैं नीचे प्रस्तुत कर रहा हूँ।[1]

प्रत्येक प्रान्त में इन बातों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(1) प्रशासनाध्यक्ष के रूप में इंग्लैण्ड से नियुक्त गवर्नर।

(2) छः सदस्यों की एक कार्यकारी परिषद अथवा कैबिनेट, जिसमें तीन भारतीय और तीन अंग्रेज हो तथा जिनके अधीन निम्नलिखित विभाग हों—

(क) गृह (कानून तथा न्याय व्यवस्था सहित) (ख) वित्त (ग) कृषि, सिंचाई और सार्वजनिक निर्माण कार्य (घ) शिक्षा (ङ) स्थानीय स्वशासन (स्वच्छता तथा चिकित्सा सहायता सहित) (च) उद्योग तथा वाणिज्य।

कार्यकारी परिषद में नियुक्त होने के लिए वैसे तो भारतीय सिविल सेवा के सदस्यों को ही योग्य माना जाए परन्तु उनके लिए परिषद में कोई स्थान सुरक्षित न रखा जाए और अंग्रेज तथा भारतीय दोनों में जो उत्कृष्टतम व्यक्ति उपलब्ध हों वे ले लिए जाने चाहिए।[2]

(3) 75 से 100 सदस्यों तक की एक विधान परिषद होनी चाहिए, जिसमें कम से कम 4/5 सदस्यों का चुनाव विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों तथा विशिष्ट वर्गों द्वारा किया जाए। उदाहरण के लिए बम्बई प्रेसीडेंसी में, मोटे तौर पर, प्रत्येक जिले द्वारा दो सदस्य चुना जाएं जिनमें से एक नगरपालिकाओं का प्रतिनिधित्व करे और दूसरा जिला तथा ताल्लुका बोर्ड का। बम्बई नगर को लगभग दस सदस्य चुनने का अधिकार दिया जाए। बाहरी निकायों जैसे कराची चेम्बर, अहमदाबाद

---

1. टी. आर. देवगिरिकर, वही पृ.—289।

2. टी. आर. देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, आधुनिक भारत के निमाता—पृ. 290।

मिल मालिक, दक्कन सरदारों का एक-एक सदस्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त मुसलमानों को विशेष प्रतिनिधित्व प्राप्त हो और कहीं-कहीं 'लिंगायत' जैसे उन सम्प्रदायों को भी एक सदस्य चुनने का अधिकार आवश्यक होगा जहां उनका जोर हो देना चाहिए। गवर्नर को यह अधिकार हो कि वह चाहे तो विशेषज्ञों के रूप में अथवा कार्यकारी सरकार के प्रतिनिधित्व में सहायता पहुँचाने के विचार से कुछ सरकारी सदस्य जोड़ सकता है।[1]

(4) कार्यकारी सरकार और इस प्रकार गठित विधान परिषद का आपसी सम्बन्ध लगभग वैसा ही होना चाहिए जैसा जर्मनी में इम्पीरियल गवर्नमेंट तथा 'रशिटन्टैग' के बीच है। परिषद के लिए सभी प्रान्तीय कानूनों को पास करना आवश्यक होगा और प्रान्तीय कराधान में घट-बढ़ करने के लिए परिषद की अनुमति आवश्यक होगी। उसके सामने बजट भी बहस के लिए पेश किया जाना अनिवार्य होगा और बजट तथा सामान्य प्रशासन विधेयक प्रसंगों से सम्बन्धित उसके प्रस्तावों को कार्यरूप देना भी आवश्यक होगा, बशर्ते कि गवर्नर ने उनके बारे में प्रतिनिषेध न कर दिया हो। बैठकें अधिक जल्दी-जल्दी आयोजित करने अथवा अपक्षतया लम्बे अवधि तक बैठकें जारी रखी जाने के लिए व्यवस्था हो परतु कार्यकारी सरकार के सदस्यों को अपने पदों पर बने रहने के लिए व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से परिपद के बहुमत के समर्थन की आवश्यकता नहीं होगी।[2]

(5) इस तरह पुनर्गठित हो जाने और विधान परिपद के नियन्त्रण में काम करने वाली प्रान्तीय सरकार को प्रान्त के आन्तरिक प्रशासन का पूरा कार्य-भार सौंप दिया जाना चाहिये इसके लिए आवश्यक होगा कि प्रान्तीय सरकार और भारत सरकार के बीच वर्तमान वित्तीय सम्बन्ध बहुत हद तक बदल दिया जाय और कुछ हद तक उलट भी दिये जायें. नमक, सीमा शुल्क, राज्य शुल्क, रेलों] डाक-तार और टकसाल से प्राप्त राजस्व पर पूर्णत: भारत सरकार का अधिकार होगा और ये

1. टी. आर. देवगिरिकर, वही, पृ. 290।

2. टी. आर. देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, आधुनिक भारत के निर्माता, पृ. 290-91।

सेवाएं इम्पीरियल मानी जायेंगी और भू-राजस्व जिसके अन्तर्गत सिंचाई, उत्पादन शुल्क, वनों निर्धारित करों, स्टाम्प और रजिस्ट्रेशन का समावेश है। प्रान्तीय सरकार को प्राप्त होना चाहिए। और उन सेवाओं को प्रान्तीय माना जाना चाहिए, क्योंकि इस तरह का विभाजन हो जाने पर, प्रान्तीय सरकार को प्राप्त होने वाला राजस्व उसकी वर्तमान आवश्यकता से अधिक होगा और भारत सरकार को निर्धारित राजस्व उसके वर्तमान खर्च से कम रह जायेगाँ अत: यह व्यवस्था की जानी चाहिये कि प्रान्तीय सरकार, भारत सरकार को ऐसा वार्षिक अंशदान देती रहे जो एक साथ पांच-पांच वर्ष की अवधियों के लिये निर्धारित कर दिया जाये, यह व्यवस्था होने पर भी इम्पीरियल तथा प्रान्तीय सरकारों को चाहिए कि वे अपनी-अपनी स्वतंत्र वित्तीय पद्धतियों का विकास कर लें और प्रान्तीय सरकारों को कुछ सीमाओं में रखकर ऋण लेने और कर लगाने के अधिकार भी दे दिये जायें।[1]

(6) प्रान्तीय स्वशासन की ऐसी योजना उस समय तक अधूरी रहेगी जब तक उसके साथ-साथ ये काम नहीं किये जायेंगे—(क) जिला प्रशासन को उदार रूप दिया जाना, और (ख) स्थानीय स्वशासन का अत्यधिक विस्तार इनमें से उपर्युक्त (क) के लिये यह कहना होगा कि सिन्ध जैसे डिवीजनों में विशेष कारणों से कमिश्नर का पद बनाए रखना आवश्यक हो, उनके अतिरिक्त अन्य डिवीजनों में कमिश्नर पद समाप्त कर दिया जाए और अंशत: निर्वाचित तथा अंशत: मनोनीत छोटी जिला परिषदें कलेक्टर के साथ जा सकती है जो इस समय कमिश्नरों को प्राप्त हैं—यों प्रारम्भ में परिषदों का काम सलाह देना रहेगा। उपर्युक्त (ख) के लिए गांवों तथा ग्राम समूहों के लिए अंशत: निर्वाचित तथा अंशत: मनोनीत ग्राम पंचायतों, नगरों के लिए म्यूनिसिपल बोर्डों और ताल्लुका बोर्डों की स्थापना की जानी चाहिये। ताल्लुका बोर्ड पूर्णत: निर्वाचित निकाय बना दिये जाने चाहिये और उनमें कड़े नियंत्रण की शक्तियां तथा उन शक्तियों के प्रयोग का काम प्रान्तीय सरकर को अपने पास सुरिक्षत रखना चाहिये। उत्पादन शुल्क के रूप में प्राप्त राजस्व का एक अंश उक्त निकायों को सौंप

1. टी आर. देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, आधुनिक भारत के निर्माता—पृष्ठ ९२।

दिया जाना चाहिए ताकि अपने कतर्तव्यों का समुचित रूप मे निर्वाह करने के लिए उनके पास पर्याप्त साधन उपलब्ध रहे। चूंकि जिला इतना बड़ा क्षेत्र होगा कि कोई अवैतनिक संगठन वहां का स्थानीय स्वशासन योग्यतापूर्वक नहीं चला सकेगा, अत: जिला बोर्डों के काम पूरी तरह सीमित होने चाहिये और कलक्टर को उसका पदेन अध्यक्ष बनाए रखना चाहिए।''[1]

भारत सरकार

प्रान्तों को इस तरह व्यवहारत: स्वशासी बना दिए जाने पर वाइसराय की कैबिनेट अथवा कार्यकारी परिषद के संविधान में भी तद्नुरूप संशोधन की आवश्यकता होगी। उस परिषद में हम आन्तरिक प्रशसन से सम्बद्ध विभागों—गृह, कृषि, शिक्षा, उद्योग तथा वाणिज्य के लिए चार सदस्य है। क्योंकि आंतरिक प्रशासन का सारा काम अब प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया जाएगा और भारत सरकार के पास अब नाममात्र का नियंत्रण अधिकार शेष रह जाएगा, जिसका प्रयोग वह बहुत ही कम अवसरों पर करेगी। अत: इन चार सदस्यों के स्थान पर एक सदस्य आंतरिक मामलों का सदस्य पर्याप्त होगा। यह ठीक है कि कुछ और विभाग बनाना आवश्यक हो जाएगा। मेरी सम्मति में परिषद में निम्नलिखित सदस्य होने चाहिए जिसमें से सदा ही कम से कम दो सदस्य अवश्य भारतीय रहे।[2]

(क) आन्तरिक मामले, (ख) वित्त, (ग) विधि, (घ) प्रतिरक्षा, (ङ) संचार, रेलें, डाक एवम् तार, (च) विदेश।

वाइसराय की विधान परिषद का नाम भारत की विधान सभा (लेजिस्लेटिव असेम्बली आफ इण्डिया) कर दिया जाना चाहिए। उसके सदस्य की संख्या बढ़ाकर आरम्भ में लगभग एक सौ कर दी जानी चाहिए और उसकी शक्तियां बढ़ा दी जानी चाहिए। परन्तु सरकारी बहुमत सिद्धान्त

1. टी. आर. देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, आधुनिक भारत के निर्माता, पृ. 292 93।
2. टी. आर. देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले,—पृ. 293।

(जिसका स्थान संभवत: मनोनीत बहुमत सिद्धान्त को दे देना पर्याप्त होगा) फिलहाल उस समय तक बने रहने दिया जाना चाहिए जब तक प्रान्तों के लिए की गई स्वशासन व्यवस्थाओं के कार्यान्वयन के विपय में पर्याप्त अनुभव प्राप्त न हो जाए। इस प्रकार भारत सरकार को प्रान्तीय प्रशासन के सम्बन्ध में ऐसी एक सुरक्षित शक्ति सुलभ हो जाएगी जिससे वह आपातकाल में काम ले सकेगी।[1] उदाहारणार्थ, यदि किसी प्रान्तीय विधान परिषद लगातर ऐसा कोई कानून पास करने से मना करती रहती है जिसे सरकार प्रान्त के मूलभूत हितों की दृष्टि से अनिवार्य समझती हो तो भारत सरकार प्रान्तीय सरकार की परवाह न करके वह कानून अपनी विधान सभा में पास कर सकती हैं। ऐसे अवसर बहुत ही कम होगें, परन्तु हम सुरक्षित शक्ति से सत्ता को सुरक्षा भावना प्राप्त रहेगी और अधिकारियों को इस बात के लिए प्रेरणा मिलेगी कि वे प्रान्तीय स्वशासन के इस महत्प्रयोग को तत्परता से कार्य रूप दे। फिलहाल सरकारी अथवा मनोनीत व्यक्तियों का बहुमत बनाये रखने के लिए इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रहते हुए विधान सभा को कुछ विवाद द्वारा सरकारी नीति को प्रभावित करने के और अधिक अवसर सुलभ होने चाहिए और ऐसा करते समय स्थल सेना तथा नौ सेना विषयक प्रश्नों को अन्य प्रसंगों के समान स्तर पर ही रखा जाना चाहिए।[2] हम प्रचार गठित भारत सरकार कौ वित्तीय मामलों में भारत मंत्री के नियंत्रण से मुक्त कर दिया जाना चाहिए, और भारत मंत्री का नियंत्रण पूँजी मामलों में भी बहुत कम कर दिया जाना चाहिए। उसकी परिषद समाप्त कर दी जानी चाहि और उसकी स्थिति धीरे-धीरे उपनिर्णयमंत्री के तुल्य हो जानी चाहिए। स्थल सेना तथा नौ सेना में कमीशन अब भारतीयों का दिये जाने चाहिए और उनके लिए फौजी तथा नौ सेना की शिक्षा का उपयुक्त प्रबन्ध किया जाना चाहिए।[3]

---

1. देवगिरिकर टी० आर० -गोपाल कृष्ण गोखले · पृ० 294.
2. देवगिरिकर, वही पृ० 294
3. देवगिरिकर, वही पृ०-295

सामाजिक विचार—गोखले का सामाजिक दर्शन विभिन्न समुदायों, जातियों एवं राष्ट्रीयताओं में समन्वय प्रतीक था। गोखले ने यद्यपि समाज सुधार आन्दोलन में तिलक के समान सक्रिय भाग नहीं लिया किन्तु वे सच्चे समाज सुधारक थे। वे रूढ़िवादिता के प्रबल विरोधी थे। भारत में प्रचलित जाति व्यवस्था को गोखले ने प्रगति की प्रतिगामी विचारधारा माना था। वे भारत की दलित जातियों के उत्थान के प्रबल समर्थक थे। छुआछूत तथा भेदभाव की नीति का अन्त करने के लिए गोखले ने भारतीयों को सामाजिक संकीर्णता से बाहर निकलने का आह्वान किया। वे सामाजिक सहिष्णुता तथा सद्‌भावना के प्रतीक थे। केवल भारत में ही नहीं अपितु दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति की भी उन्होंने तीव्र आलोचना की। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जातीय भेदभाव का अन्त करके भारत विश्व के राष्ट्रों में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकता। उनके अनुसार जब तक भारत में छुआछूत की समस्या का निवारण नहीं कर लिया जाता तब तक भारत द्वारा समान अधिकारों की मांग अर्थहीन है। दक्षिण अफ्रीका में भारतीय जिन अधिकारों की माँग कर रहे थे उन्हीं अधिकारों का प्रयोग भारत के सवर्ण पिछड़ी एवं दलित जातियों को देने में संकुचाते थे। इस प्रकार की दोहरी सामाजिक नीति से भारत का हित नहीं हो सकता था।[1]

गोखले समाज सुधार कार्यक्रमों के प्रबल समर्थक थे किन्तु उनके विचारों में सामाजिक सुधार के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण विचार प्राप्त नहीं होता है। उनके जीवन में घटी एक घटना उनके हृदय पर इतना अधिक बोझ बन गयी कि वह अपने को समाज सुधार के अयोग्य समझने लगे ऐसा उनके जीवनी लेखक देविगिरिकर की मान्यता है। देवगिरिकर ने लिखा है "सामाजिक सुधार के प्रबल समर्थक होते हुए भी गोखले समाज सुधार में आगे नहीं रहे। कहा जाता है कि पहली पत्नी के जीवित होते हुए दूसरा विवाह कर लेने का बोझ, उनके हृदय पर इतना अधिक रहा कि वह अपने को समाज सुधार आन्दोलन के अगुआ के आयोग्य समझने लगे। उनकी मन: स्थिति यह जान पड़ती

1. आर० पी० पराँजपे, गोपाल कृष्ण गोखले, आर्य भूषण प्रेस पूना 1915 पृ० 3 4

है कि जिस बात पर स्वयं आचरण न किया जा सकता हो उसका प्रचार भी नहीं करना चाहिए।[1] अत: समाज सुधार के कार्य के प्रति पूरी सहानुभूति होने पर भी उन्होंने अपने को उससे अलग ही रखा। यहाँ पर यह बताना आवश्यक हो जाता है कि, उनके गुरू न्यायमूर्ति रानाडे के जीवन में भी इसी प्रकार का धर्म संकट आया था, जबकि वह विधवा से विवाह न करके अपना दूसरा विवाह एक अल्पायु की कन्या के साथ करके अपने को परिवार की इच्छा के सामने समर्पित किया। इस पर उन्हें कठोर आलोचनाओं का सामना करना पड़ा था, किन्तु वह समाज सुधार में लगे रहे। लेकिन गोखले की धारणा थी कि यदि किसी कार्य पर अमल स्वयं न किया जाय तो उसके लिए दूसरों को सलाह देना उचित नहीं है।

समाज सुधार के साधन के रूप में यदि शिक्षा को स्वीकार किया जाय, तो यह मानना अनुचित नहीं होगा कि गोखले ने भी समाज के उत्थान में अह्म भूमिका निभायी थी। गोखले, समाज एवं राष्ट्र के उत्थान के साधन के रूप में शिक्षा की शक्ति पर अभूतपूर्व विश्वासवान थे। दिसम्बर 1903 में जब विश्वविद्यालय विधेयक प्रस्तुत किया गया तो मानो उनका 'शिक्षाविद्' रूप प्रबुद्ध हो उठा। उस विधेयक के पीछे सरकार की मन: स्थिति विश्वविद्यालयों को पूर्णत: अपने नियंत्रण में ले लेना था। गोखले ने इस विधेयक का विरोध करते हुए कहा कि इससे विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियंत्रण इतना अधिक हो जाएगा कि वह राज्य के एक विभाग मात्र बनकर रह जाएगें।[2] सरकार द्वारा प्रस्तुत तर्क था, कि कालेजों में प्रदान की जाने वाली शिक्षा का स्तर उच्च नहीं है, उत्तर देते हुये गोखले ने कहा था कि वर्तमान में तो उसका स्तर उच्च कोटि का तो था ही और यदि वह यथासम्भव उच्चतम नहीं भी थी तो भी इस कारण उसे ठुकराया नहीं जा सकता है।[3]

---

1. त्रयम्बक रघुनाथ देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, आधुनिक भारत के निर्माता, सीरीज प्रकाशन, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार दिल्ली, 1980-पृ० 25-26
2. टी० वी० पर्वन, गोपाल कृष्ण गोखले, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस अहमदाबाद पृ० 170
3. टी० पी० पर्वत, गोपाल कृष्ण गोखले, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस अहमदाबाद पृ० 170

गोखले ने एक शिक्षक के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया था और इस कारण से वे भारत की शिक्षा प्रणाली के सम्बन्ध में समय-समय पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट करते रहें। वे भारत में अंग्रेजी शासन द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया जाना उचित एवं वांछनीय समझते थे। उनके अनुसार शिक्षा का प्रसार नैतिक तथा आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से अनिवार्य था। बर्लिन के प्रोफेसर ट्यूज के विचारों को आधार मानकर गोखले ने शिक्षा के विस्तार को कृषि, छोटे उद्योगों, निर्माताओं तथा वाणिज्य द्वारा राष्ट्रीय आर्थिक उत्पादक में वृद्धि का कारण माना।[1]

शिक्षा के विस्तार द्वारा श्रम से उत्पन्न लाभ का उचित वितरण किया जा सकता था। श्रम क बंटवारा सामाजिक शांति एवं सामान्य समृद्धि का द्योतक था। जनसामान्य का उचित शिक्षण सामाजिक एवं आर्थिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान की वृद्धि का भी सूचक मानते हुए गोखले ने भारत में शिक्षा तथा विशेपतौर से प्रारम्भिम शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित करने का आह्वान किया। अन्य देशों में राज्य द्वारा शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया जाता था और शिक्षा के विस्तार के लिए धन का समुचित प्रबन्ध भी किया जाता था किन्तु भारत सरकार वित्तीय कठिनाइयों के नाम पर शिक्षा के प्रति विमुख थी। गोखले ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और उचित वित्तीय व्यवस्था द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया।[2]

गोखले पाश्चात्य शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार पर अपना विचार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था, "मेरे विचार से भारत की वर्तमान अवस्था में पाश्चात्य शिक्षा का सबसे बड़ा कार्य विद्या को प्रोत्साहन देना उतना नही हैं जितना कि भारतीय मस्तिष्क को प्राचीन विचारों की दासता से मुक्ति दिलाना तथा पश्चिम के जीवन तथा विचार और चरित्र में सर्वोत्तम

---

1. स्पीचेज ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, जी. ए. नेटसन द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण मद्रास 1920, पृष्ठ 36।
2. स्पीचेज ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, जी. ए. नेटसन द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण मद्रास 1920, पृष्ठ 36।

तत्वों को आत्मसात करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु न केवल उच्चतम वरन् सभी पाश्चात्य शिक्षा उपयोगी है।''[1]

गोखले ने प्राथमिक शिक्षा की अनिवार्यता एवम् नि:शुल्कता पर बहुत बल दिया। 18 मार्च, 1910 को गोखले ने इम्पीरियल कौंसिल में यह प्रस्ताव रखा कि ''यह परिषद सिफारिश करती है कि पूरे देश में प्राथमिक शिक्षा नि:शुल्क एवम् अनिवार्य बनाने के लिए अब कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए कि अन्य सभ्य देशों का अनुकरण करके लोगों को साक्षर बनाने का अपना दायित्व पूर्ण करे। [2] उन्होंने कहा कि स्कूल जाने वाले बच्चों का प्रतिशत चौगुना होना चाहिए अत: शिक्षा पर होने वाले व्यय भी चौगुनी होना चाहिए। गोखले ने सुझाव दिया कि इस व्यय का दो तिहाई भाग सरकार तथा बाकी स्थानीय निकाय वहन करे। शिक्षा की अनिवार्यता के सम्बन्ध में गोखले का कहना था कि इसे सरकार को सिद्धान्तत: स्वीकार कर लेना चाहिए। इन्हीं के शब्दों में ''इस प्रकार उन लोगों को प्रकाश की एक किरण, परिष्कर के एक स्पर्श और आशा की एक झलक की उपलब्धि हो जायेगी, जिन्हें उन वस्तुओं की बहुत अधिक आवश्यकता है।[3]

शिक्षा के विस्तार द्वारा व्यक्तियों के जीवन में नवीन चेतना का संचार अवश्यंभावी था। गोखले यह जानते थे कि शिक्षा के विस्तार मात्र से भारत अपनी समस्याओं तथा कठिनाइयों को हल नहीं कर सकता था। जीवन में संघर्ष, अपरिपक्वता, स्वार्थ तथा कष्टों का फिर भी सामना करना पड़ेगा। केवल शिक्षा से निर्धनता का अन्त भी सुलभ नहीं होगा। देशभक्ति एवं परामर्श से प्रेरित सहायता कार्यों की आवश्यकता बनी रहेगी। इतना अवश्य होगा कि उचित शिक्षा द्वारा व्यक्तियों में

---

1. संस्करण मद्रास 1920, पृष्ठ 36।
2. स्पीचेज गोपाल कृष्ण गोखले, जी. ए. नेटसन द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण मद्रास 1920 पृष्ठ 37।
3. त्रयम्बक, रघुनाथ देवगिरिवर, गोपाल कृष्ण गोखले, पब्लिकेशन डिवीजन भारत सरकार नई दिल्ली 1967 द्वितीय संस्करण पृष्ठ 142 143।

जिस नवीन आत्मनिष्ठ का विकास होगा उससे वे आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण का प्रतिकार कर सकेंगे और मानवीय गरिमा के संरक्षण का उचित वातावरण बन सकेगा।[1] गोखले का यह विश्वास निरर्थक सिद्ध नहीं हुआ उनके द्वारा भारत में पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार का समर्थन आगे चल कर भारतीयों को स्वशासन के कार्य में पाश्चात्य स्तर की दक्षता दिलाने में सहायक हुआ। अंग्रेजों ने भारत में पाश्चात्य शिक्षा तथा अंग्रेजी के पठन-पाठन पर जितना ध्यान केन्द्रित किया उसका लाभ भारत की अपनी विस्तृत राजनीतिक चेतना को जागृत करने के अर्थ में अवश्य प्राप्त हुआ।

गोखले ने हिन्दुओं में व्याप्त सामाजिक संकीर्णता का विरोध किया। वे व्यापक दृष्टिकोण से सामाजिक समस्याओं का हल ढूंढ़ रहे थे। ऐसे समय जबकि महाराष्ट्र के पुरातनपंथी ब्राह्मणों द्वारा जाति बहिष्कार के निर्णय लिये जाने थे और अवर्णों के साथ सामाजिक आदान-प्रदान पर प्रायश्चित करवाया जाता था, गोखले ने अवर्णों की समस्या को लेकर अद्‌भुत साहस का परिचय दिया। वे अपने आपको हिन्दू कहलाने के स्थान पर भारतीय कहलाना पसन्द करते थे। केवल हिन्दुओं की जाति व्यवस्था ही नहीं अपितु उनके द्वारा अन्य धर्मावलम्बियों के साथ किये गये व्यवहार को भी गोखले ने लताड़ा। वे धार्मिक सहिष्णुता को सामाजिक एकता का प्रमुख आधार मानते थे। हिन्दु तथा मुसलमानों के मध्य मधुर सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना उनका ध्येय था। वे विभिन्न समुदायों में एकता की भावना का संचार कर उन्हें एक ही राष्ट्र के अन्तर्गत लाने के पक्षपाती थे। वे हिन्दू लीग तथा मुस्लिम लीग दोनों को ही राष्ट्र विरोधी मानते थे। उनके विचारों का भारत राष्ट्र न तो हिन्दू था न मुस्लिम। वे धर्म निरपेक्ष तथा साहिष्णुता के उपासक थे। वे पृथक् प्रतिनिधित्व को महत्वहीन मानते थे। भारत में विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक समुदायों में किसी भी प्रकार के मनोमालिन्य अथवा अविश्वास के लिए स्थान नहीं था। सहिष्णुता के आदर्श को अपनाकर एकजुट होने का संदेश भारत के निवासियों के लिए गोखले की सामाजिक विरासत थी। गोखले मानववादी थे। उनका

---

1. स्पीचेज गोपाल कृष्ण गोखले, जी. ., नेटसन द्वारा प्रकाशित द्वितीय संस्करण मद्रास 1920 पृष्ठ 49-50।

किसी भी धार्मिक समुदाय अथवा राष्ट्रीयता के प्रति दुराव नहीं था। वे धार्मिक रूढ़िवाद से ऊपर उठकर सोचने में सक्षम थे। वे ईश्वर की सत्ता को मानव प्रेम में उद्भासित मानते रहे। भारत के आध्यात्मिक गौरव एवं तत्व ज्ञान की अभिव्यक्ति उनके सामाजिक विचारों का मूल थी।[1]

गोखले के उक्त राजनीतिक विचारों के अध्ययन से निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि उन्होंने विभिन्न राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में अपने उचित सुझावों के द्वारा भारतीय राजनीतिक उदारवाद को अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने राजनीति के आध्यात्मीकरण पर बल दिया और ब्रिटिश साम्राज्य की न्यायप्रियता में अटूट विश्वास व्यक्त किया। यद्यपि वह एक आदर्शवादी थे तथापि प्लेटो की भांति कोरे स्वप्न लोक में विचरण करने वाले आदर्शवादी नहीं थे। उन्होंने समस्याओं एवं साधनों की व्यवहारिकता पर अपने विचारों को स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किया। उन्होंने उग्रवादी उपायों का समर्थन कभी नहीं किया।

---

1. आर. पी. परांजपे, गोपाल कृष्ण गोखले, आर्य भूषण प्रेस, पूना 1915 पृ. 26 28।

अध्याय—5

बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन

पुर्नजागरण काल के प्रारम्भ में भारत की शोषत, पीड़ित, पराधीन जनता के मन में पराधीनता की बेड़ियों को उखाड़ फेकने तथा राष्ट्रवादी चेतना को विकसित करने में गोपाल कृष्ण, गोखले तथा बाल गंगाधर तिलक का स्थान अग्रणी रहा है। इन्होंने अपने नवीन उद्‌गारों एवं विचार से भारत में एक ऐसी नवीन क्रान्ति की जन्म दिया जिसने अर्वाचीन भारत के नव निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

जहाँ तक बाल गंगाधर तिलक तथा गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक और सामाजिक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न है इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि दोनों ही विभूतियों का जन्म महाराष्ट्र के कोंकण में हुआ था। बाल गंगाधर तिलक ने मध्यमवर्गीय, सनातनी ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया, जिसे कोई सामन्तवादी विलासमूलिका सुविधा प्राप्त नहीं थी। गोखले का जन्म भी एक सम्पन्न मध्यवर्गीय चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। जिनका सामान्य सिद्धान्त था—"परिमित इच्छा संयत व्यय।"[1] यद्यपि आर्थिक दृष्टि से तिलक का परिवार मध्यमवर्गीय था, तथापि वह धार्मिक और शैक्षणिक परम्पराओं की दृष्टि से बहुत धनी था।

बाल गंगाधर तिलक की माता पार्वतीबाई धर्मपरायण महिला थी, और पुत्र प्राप्ति के लिए उन्होंने अनेकों व्रत और उपवास किये थे। इनकी माँ पार्वतीबाई हिन्दू पवित्रता, कर्त्तव्यशीलता, आर्जव और शुद्धता की मूर्ति थीं। तिलक का विवाह 15 वर्ष की अवस्था में तापी बाई के साथ हुआ जो कि आदर्श हिन्दू पत्नी थी। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे पवित्रता, और कर्त्तव्यपरायण महिला के रूप

---

1. टी० आर० देवगिरिकर; आधुनिक भारत के निर्माता, गोपाल कृष्ण गोखले, निदेशक, प्रकाशन विभाग, पुराना सचिवालय, दिल्ली-6, 1967, पृ० 8.

में अपने पति की सेवा करती रही, और हिन्दू नारीत्व के सर्वोच्च आदर्श के अनुरूप उन्होंने जीवन-यापन किया।[1] एक सनातनी परिवार में जन्म लेने के कारण, तिलक का बचपन प्राचीन परम्पराओं के पालन, कर्मकाण्ड की अनुरक्ति और विद्याध्ययन में बीता। गोखले का पारिवारिक जीवन धर्म प्रधान था। गोखले की माँ पढ़ी-लिखी तो नहीं थी परन्तु अन्य निरक्षर ज्ञानवान स्त्रियों की भांति उन्हें बुद्धिमत्ता और परम्परागत ज्ञान की भरपूर निधि प्राप्त थी। रामायण और महाभारत की कथाएं उन्हें कंठस्थ थी। सन्त महात्माओं के भक्तिपूर्ण भजन भी उनको कंठस्थ थे। इन सब का प्रभाव गोखले के ऊपर पड़ा।[2] अत: इन दोनों ही विभूतियों के साथ यह सत्य ही साबित हुआ कि परिवार ही प्रारम्भिक पाठशाला है।

किसी भी व्यक्ति के लिए वह समय बितना दु:खदायी होता है जब वह दैवयोग के अनुकूल न होने के कारण अपने माता-पिता के वात्सल्य एवं देखभाल से बाल्यावस्था में ही वंचित हो जाता है। बिरले लोग ही होते है, जो इस कमी से उबरकर जीवन में कुछ कर पाने की स्थिति में आपाते हैं। ऐसा ही तिलक के साथ भी हुआ। जब वे मात्र दस वर्ष के थे, उसी समय उनकी माता का देहान्त हो गया तथा 16 वर्ष की अवस्था में पिता गंगाधर भी स्वर्गवासी हो गये। गंगाधर बहुत सम्पन्न स्थिति में नहीं थे, परन्तु तीक्ष्णबुद्धिसम्पन्न तथा अध्यवसाय और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना से परिपूर्ण थे। आत्म सम्मान और वैयक्तिक मर्यादा की भावना के कारण वे अपने उच्च अधिकारियों की खुशामद नहीं करते थे इसलिए वे आर्थिक दृष्टि से आगे नहीं बढ़ सके। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से तिलक का परिवार मध्यमवर्गीय था, तथापि वह धार्मिक और शैक्षणिक दृष्टि से बहुत धनी था। तिलक के परदादा केशव ने अपना अधिकांश समय पूजा-पाठ और कर्मकाण्ड में बिताया। तिलक के दादा रामचन्द्र ने पैंतीस वर्ष की अवस्था में आध्यात्मिक नि:श्रेयस की खोज करने के लिए संसार का त्याग

---

1. वी० पी० वर्मा; लोकमान्य तिलक जीवन और दर्शन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक आगरा-3, 1982-पृ० 9

2. वी० पी० वर्मा : वही, पृ० 13.

कर दिया था। यद्यपि तिलक के पिता, गंगाधर ने केवल विद्यालय-स्तरीय पठ्य पुस्तके लिखी, परन्तु वे संस्कृत साहित्य के विद्वान थे, और उन्होंने स्वयं ही तिलक को गणित और संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा दी थी।[1] गोखले भी जब तेरह वर्ष के थे तो उनके पिता की मृत्यु हो गयी थी और उन्हें परिवार के साथ दूसरे गांव में जाना पड़ा जहाँ उनके बड़े भाई नौकरी करते थे। गोखले का प्रारम्भिक जीवन बड़ी कठिनाई में बीता। गोखले का विवाह भी 15 वर्ष की उम्र के पहले ही हो गया था।

बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले दोनों का अधिकांश समय पूना में व्यतीत हुआ। तिलक ने 1866 में पूना नगर स्कूल में दाखिला लिया तथा 1873 में देक्कन कॉलेज में प्रवेश लिया। तिलक ने 1880 में पूना में रहकर अपना सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ किया। 1880 में ही तिलक ने 'न्यू इंगलिश स्कूल' की स्थापना की जिसका उद्देश्य निर्धन विद्यार्थियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना था। इसी वर्ष उन्होंने अपने मित्र आगारकर से मिलकर दो साप्तहिक पत्र मराठी भाषा में 'केसरी' और अंग्रजी भाषा में 'मराठा' प्रकाशित किया। इन पत्रों के प्रकाशन के साथ ही उनका सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ होता है। इन पत्रों के माध्यम से ही उन्होंने लगभग 40 वर्ष तक प्राकृतिक अधिकार, राजनीतिक स्वतन्त्रता और न्याय के सिद्धान्तों का प्रसार किया।[2] गोखले ने भी 1886 में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद पूना के दक्कन कॉलेज में प्रवेश लिया। गोखले ने अपना जीवन एक शिक्षक के रूप में प्रारम्भ किया तथा वे दक्कन एजुकेशन सोसाइटी के आजीवन सदस्य भी रहे। 1902 में इस सोसाइटी से मुक्त होने के पश्चात् गोखले ने फर्गुसन कॉलेज, पूना में प्रिंसपल के पद को सुशोभित किया। अपने विस्तृत ज्ञान, कठोर परिश्रम और बौद्धिक ईमानदारी के बल पर इन्होंने इन सभी पदों पर बहुत अधिक कुशलता पूर्वक कार्य किया। गोपाल कृष्ण गोखले ने ईमानदारी तथा नि:

---

1. वी० पी० वर्मा ; लोकमान्य तिलक जीवन और दर्शन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशन आगरा 3, 1967, पृ० 10.
2. पुरूषोत्तम नागर, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, राजस्था, 1980, पृ० 183.

स्वार्थ कार्य भावना के सद्‌गुण अपनी वंश परम्परा से ही प्राप्त किये थे। उन्होंने अपने इस उत्तराधिकार की रक्षा ही नहीं की अपने जीवन तथा कार्यों से उसे समृद्ध भी किया।[1]

राजनीतिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन

तिलक और गोखले के जीवन में इन समानताओं के होने पर भी दोनों के विचारों में कुछ बुनियादी मतभेद भी थे इसी कारण वे एक दूसरे से बिल्कुल अलग थे। यह मतभेद विचारधारा, साधन, प्रभाव लक्ष्य, कार्यपद्धति को लेकर था दोनों के रास्ते अलग-अलग होने पर भी मंजिल एक थी, वह थी स्वराज्य। यह मतभेद व्यक्तिगत स्वभाव से लेकर राजनैतिक सिद्धान्तों और आदर्शों के क्षेत्र तक फैला था।

गोखले नम्र और भावुक व्यक्ति थे, तिलक स्वेच्छा सम्पन्न सिद्धान्तवादी थे। गोखले गंगा के समान थे, ''जिसमें स्नान कर आदमी निर्मल हो जाता है.'' किन्तु तिलक अथाह महासागर के समान थे, जिसमें कूदना खेल नहीं। गोखले को रानाडे का शिष्य होने का गर्व था, पर तिलक किसी को भी अपना गुरू मानने को तैयार न थे। गोखले अपने आप तो ठीक मार्ग पर रहते, किन्तु जब फिरोजशाह मेहता गलत रास्ते पर होते, तब वह यह जानते हुए भी उसका साथ दे देते थे, किन्तु तिलक कर्त्तव्य को ही अपना पुरस्कार मानते थे। शास्त्री के शब्दों में गोखले इस कोमल वल्लारी के समान थे, जिसे फैलने के लिए किसी वृक्ष के सहारे की जरूरत पड़ती है और तिलक स्वयं एक ऐसे विशाल वरगद के वृक्ष के समान थे, जिसमें से निकली अनेक शाखाएं चारों ओर फैली रहती है।

तिलक और गोखले के राजनीतिक एवं सामाजिक दर्शन का विकास प्रारम्भिक तौर पर पाश्चात्य दर्शन के उनके भिन्न दृष्टिकोण के रूप में भारतीय उपमहाद्वीप में हुआ।[2] तिलक और गोखले के

---

1. पुरूषोत्तम नागर : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, राजस्थान, 1980 पृ० 150-151.

2. एन० जी० जोग : आधुनक भारत के निर्माता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मन्त्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, 1969, पृ० 215.

राजनीतिक विचारों का क्रम उनके द्वारा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की 1889 में सदस्यता प्रारम्भ करने से प्राप्त होता है।

बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले जब ऐजुकेशन सोसाइटी के सदस्य थे, उसी समय उनके मतभेद खुलकर सामने आने लगे थे। अत: यह बात आश्चर्य जनक नहीं है कि अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ से ही तिलक और गोखले ने अपने को दो परस्पर विरोधी खेमों में बंटा पाया था। तिलक ने, गोखले को 'सार्वजनिक सभा' का मंत्री बनने की अनुमति दी जाने के कारण, सोसाइटी से इस्तीफा दे दिया था। इसके पश्चात दोनों में सामाजिक सुधार के प्रश्नों को लेकर तीव्र मतभेद उत्पन्न होने शुरू हो गये थे। अन्त में गोखले ने 'सार्वजनिक सभा' (जिस पर तिलक ने कब्जा जमा लिया था) से त्यागपत्र देकर देक्कन सभा (सार्वजनिक सभा के प्रतिद्वन्द्वी संस्था स्वरूप रानाडे द्वारा स्थापित) में शामिल हो गये, यह दोनों के अन्तिम रूप से सम्बन्ध विच्छेद करने के समान था।[1] 1890 में तिलक ने देक्कन ऐजूकेशन सोसाइटी से भी त्यागपत्र दे दिया।

इस घटना के पश्चात् दोनों अपने जीवन के अन्त तक, एक दूसरे के विरोधी बने रहे और जैसे-जैसे तिलक की राजनीति अधिकाधिक उग्र होती गई, वैसे-वैसे गोखले अपने उदार विचारों के घेरे में बधते चले गये। इस प्रकार 1896 में एक प्रकार से महाराष्ट्र में दो प्रमुख दल हो गये थे. परन्तु 1905-6 में तिलक ने एक नये दल की ठोस आधारशिला रखी, जो अपील और आवेदन की पुरानी नीति से सन्तुष्ट नहीं था। बाल गंगाधर तिलक ही इस नये दल के सर्वमान्य नेता थे। उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य, उनके महान् त्याग और उनकी उत्कृष्ट देशभक्ति ने उन्हें दल का नेतृत्व करने के लिए पूर्ण रूप से योग्य बना दिया। तिलक स्वाभाविक रूप से अपनी सहायता स्वयं करने के सिद्धान्त में विश्वास करते

---

1. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, नई दिल्ली, 1969, पृ० 215-216.

थे।[1] भगवद्गीता में उल्लिखित आत्मा के दर्शन से वे स्वयं सहायता के राजनीतिक सिद्धान्त का समर्थन करते थे।[2]

उद्धरेदात्मनात्मांन नात्मानमवसादयेत् ।
आतमैव ह्यात्मनो बन्दुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।

बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले के विपरीत इस पर बल देते थे कि समाज सुधार से पहले राजनीतिक सुधार होना चाहिए।

तिलक का कहना था कि "मैं इसमें विश्वास नहीं करता कि राजनैतिक मुक्ति से पूर्व ही सामाजिक पुर्न-निर्माण का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक हमें अपना भविष्य स्वयं निश्चित करने की शक्ति नहीं प्राप्त हो जाती, तब तक, मेरी राय में, राष्ट्रीय पुर्नजागरण नहीं लाया जा सकता। मैंने अपने जीवन में सदा इसी विश्वास का प्रचार किया है। जब मैंने 'एज ऑफ कन्सेन्ट बिल' का विरोध किया था, तो वह मुख्यता केवल इसी आधार पर। मैं न तो तब समझता था, और न ही अब समझता हूँ कि ऐसा कोई भी विधान मण्डल, जो जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं है, सामाजिक विषयों पर कानून बनाने के लिए सक्षम है।"[3] इसके विपरीत गोखले तथा उनके साथियों का दृढ़ विश्वास था कि समाज सुधार के बिना, कोई प्रगित सम्भव नहीं है—अर्थात् उदारवाद समाज सुधार में बद्धमूल्य है।

विचारधारा—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोन की दो धाराएँ रही है इन दोनों धाराओं का मूल उद्देश्य भारतीय जनता का हित साधन था लेकिन यह हित साधन किस रूप में किया जा सकता है और इसके हेतु किन साधनों को अपनाया जाना चाहिए, इसके सम्बन्ध में इन दोनों विचारधाराओं में अन्तर

---

1. वी० पी० वर्मा : लोकमान्य तिलक जीवन और दर्शन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक आगर 3 1882. पृ० 213.
2. भगवत गीता 6,5.
3. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, 1969, पृ० 36.

रहा है। बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले के मध्य भी वैचारिक मत भिन्नता थी। इसके पीछे दोनों के वातावरण, पालन पोषण एवं उनका खुद का व्यक्तित्व ही एक कारण था। तिलक पाश्चात्य विश्वासों पर सहमति नहीं रख सके इसका एक मुख्य कारण उनका ब्राह्मण होना भी था। जबकि गोखले और रानाडे भी तिलक की भांति ब्राह्मण थे। तिलक की तरह वह भी चितपावन ममुदाय के थे जो कि ब्रिटिश उपनिवेश बनने के पूर्व भारत में आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करता था। लेकिन ब्रिटशों के आने के पश्चात इस समुदाय के नेतृत्व का ह्रास हुआ इसी के चलते तिलक ब्रिटिश नीतियों के विरोधी थे।[1]

तिलक के विचार, गोखले के विचारों से भिन्नता लिए हुए है क्योंकि तलिक का आकर्षण हिन्दुत्व की तरफ ज्यादा है। तिलक अपने प्रारम्भिक दिनों में ही पाश्चात्य दर्शन का परिचय प्राप्त कर चुके थे। तिलक का रूझान गणित एवं नक्षत्र विज्ञान की तरफ ज्यादा था और इन्ही विचारों के प्रभाव से अपने ज्ञान को पुष्ट करते थे। तिलक अपने भारतीय धर्म दर्शन एवं संस्कृति के प्रति कट्टर थे और वे गोखले की तरह ब्रिटिश साम्राज्य को वरदान नहीं अपितु अभिशाप मानते थे। तिलक का मानना था कि ईसाई धर्म से प्रभावित पाश्चात्य दर्शन अपने को अन्य दर्शनों की तुलना में उच्च मानकर चलता है तथा पाश्चात्य दर्शन अपने ही धर्म को श्रेष्ठ तथा अपने धर्म ग्रन्थों को सर्वज्ञानी मानता था। इसके साथ ही साथ पाश्चात्य दार्शनिक, धर्म के क्षेत्र में अग्रणी हिन्दू ब्राह्मणों को सदा दोयम दर्जे का मानते थे। तिलक एवं गोखले के मध्य ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति वैचारिक मत भिन्नता का कारण उनकी ब्रिटिश साम्राज्य के कृत्यों के प्रति उनका भिन्न दृष्टिकोण था।[2] 1895 में तिलक अंग्रेजों की न्यायप्रियता तथा उनकी दयालुता के झूठे दम्भ के विरोध में उठ खड़े हुए। परिवर्तित विचारों के द्वारा वे उदारवादियों

1. एम० ए० वोतर्पट : तिलक एण्ड रिव्यूलूशन एण्ड रिफामं इन द मेंकिंग ऑफ मार्डन इण्डिया, दिल्ली आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, 1991, पृ० 302.

2. एम० ए० वोतपर्ड : तिलक एण्ड गोखले रिव्यूलूशन एण्ड रिफाम इन द मेंकिंग आफ मार्डन इण्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस 1991 पृ० 302 303

की प्रार्थना एवं याचिकाओं की नीति को भिक्षा वृत्ति मानने लगे। जहाँ तिलक का यह मानना था ब्रिटेन और भारत के हित सामान्य नहीं है क्योंकि दोनों की ही परिस्थितियाँ तथा संस्कृतियाँ भिन्न है। अपितु दोनों के हित परस्पर और नितान्त विरोधी है। अर्थात लंकाशायर के विकास से भारत का विकास नहीं हो सकता।[1] वहाँ गोखले ब्रिटेन की अधीश्वर शक्ति की सर्वोच्चता को स्वीकार करते थे उनका मानना था कि ''अच्छे अथवा बुरे के लिए हमारा भविष्य एवम् हमारी आकाँक्षाएं ब्रिटिश राज्य के साथ जुड़ गई है और कांग्रेस उन्मुक्त रूप से यह स्वीकार करती हैं कि जिस प्रगति की हम आकांक्षा करते है वह ब्रिटिश शासन की सीमाओं में ही है।[2]

प्रभाव—बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले दोनों के ही दर्शन में विभिन्न विचारों का भी प्रभाव पड़ा। जहाँ एक ओर तिलक ने वेद, उपनिषद व गीता का गहन अध्ययन किया था, वहीं दूसरी ओर हेगल, कांट, स्पेन्सर, मिल, बेन्थम, वाततेयर व रूसो आदि के विचारों का भी अध्ययन किया था। वे पाश्चात्य साहित्य एवं संस्कृति के उच्चादर्शों से भी अनभिज्ञ नहीं थे, किन्तु तिलक एक राष्ट्रवादी भारतीय के रूप में भारत का वैचारिक पुनर्निमाण पाश्चात्य विचार धारा पर आधारित करना नहीं चाहते थे। मिल और स्पेन्सर के अध्ययन ने उन्हें तर्कवादी और संशयवादी बना दिया। गीता तथा वेदों की प्रेरणा से तिलक ने भारत के अतीत के राष्ट्रीय गौरव एवं संस्कृति को उभारने का प्रयास किया। तिलक इस अर्थ में पुनरूत्थानवादी थे। ये राष्ट्रवाद को उस प्राचीन नींव पर आधारित करना चाहेत थे जिसे भारत ने अपनी गौरवपूर्ण धरोहर के रूप में सजा रखा था।[3] गोखले, ह्यूम, वैडनवर्न, रिपन, कार्ले में उस क्षमताओं को देखते थे जो कि ब्रिटिश एवं भारतीयों के मध्य

---

1. एस० ए० वोतपर्ट : वही, पृ० 303.
2. टी० आर० देवगिरिकर : आधुनिक भारत के निमाती, गोपाल कृष्ण गोखले, निदेशक प्रकाशन विभाग, पुराना सचिवालय, दिल्ली 6, 1967, पृ० 116
3. पुरूषोत्तम नागर : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, राजस्था, 1980, पृ० 200

भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दूरी को मिटाने के लिए सेतु का काम कर सके।[1] **डॉ० पट्टाभि** का कहना था कि ''वास्तव में, वे न तो दुर्बल हृदय उदारवादी थे और न ही छिपे हुए राजद्रोही। वे तो जनता की आवश्यकताए, इच्छाएं और आकाँक्षाएं सरकार को बताते थे और सरकार की कठिनाइयाँ जनता और कांग्रेस के सम्मुख रखते थे। वे तो जनता और सरकार के बीच एक सच्चे मध्यस्थ थे।''[2] अपनी इस मध्यस्थता के कारण वे अनेको बार जनता तथा सरकार दोनों में अलोकप्रिय हो जाते थे, लेकिन इस अलोकप्रियता से विचलित न होते हुए अपने विवेक के अनुसार भारत के सर्वोत्तम हित में कार्य करते रहते थे। इनका विश्वास था कि एक दूसरे से ईर्ष्या और घृणा करने से ब्रिटेन और भारत दोनों की हानि है, सद्भावना व स्वस्थ सहयोग से बहुत कुछ लाभ हो सकता है। **गोखले के अनुसार** ''जो अंग्रेज यह समझता है कि भूतकाल की तरह भविष्य में भी भारत में बहुत दिन तक शासन किया जा सकता है और जो भारतीय यह समझता है कि हमें इस साम्राज्य से बाहर निकलकर अपना रास्ता बनाना चाहिए, वे दोनों ही मौजूदा हालत की यर्थाथताओं को अपर्याप्त रूप से समझते हैं।''[3] इस प्रकार गोखले का यह विचार था कि भारतीय और ब्रिटिश शासन के सम्बन्ध सद्भावना पूर्वक रहे।

इसके विपरीत तिलक ने समानता की तुलना में स्वतन्त्रता को प्रमुखता प्रदान की। तो गोखले के विकासवादी विचारों से सहमत नहीं थे। जहाँ गोखले ने ब्रिटिश एवं भारतीयों के मध्य सेतु की कल्पना की वहीं तिलक ने इसे खाई का दृष्टिकोण प्रदान किया। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के स्थान पर उन्होंने राष्ट्रवादी क्रान्ति का चयन किया। उनकी नीति शोपतों की समस्याओं के खिलाफ आवाज

---

1. एम० ए० वोतपर्ट : तिलक एण्ड गोखले रिव्यूलूशन एण्ड रिफार्म इन द मेकिंग ऑफ मार्डन इण्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस 1991-पृ० 300
2. पट्टाभि सीतारमैय्या : हिस्ट्री ऑफ नेशनल कांग्रेस, भाग 1, पद्मा पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बाम्बे, 1935-पृ० 90.
3. पट्टाभि सीतारमैय्या : हिस्ट्री ऑफ नेशनल कांग्रेस, पद्मा पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई, 1935, पृ० 25.

बुलन्द करना एवं शोषण का विरोध करना था।[1] उनका यह भी मानना था कि शोषितों की विभिन्न प्रकार की समस्याएं चन्द ब्रिटिशों के कारण है तिलक ने स्वतन्त्रता के विचारों को कभी बहुत खुलकर व्यक्त नहीं किया इसके लिए उन्होंने प्रेस एवं सार्वजनिक मंच को चुना इसके पीछे भी उनकी यह सोच कार्य कर सही थी कि ब्रिटिश उन्हें दण्डित कर सकते है, और उनके द्वारा स्वतन्त्रता के लिए किए गए अब तक के कार्यों को विनष्ट कर सकते है।[2] अत: केसरी और मराठा के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त कर देश में जागृति उत्पन्न की। यह उनका व्यावहारिक दृष्टिकोण था। भारत की स्वतन्त्रता दिलाना उनका एकमात्र एवं अन्तिम उद्देश्य था।

लक्ष्य—जहाँ तक बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले के लक्ष्य के सम्बन्ध का सवाल है, इन दोनों का ही उद्देश्य ''स्वशासन'' है। लेकिन स्वशासन की प्राप्ति का तात्पर्य दोनों ने अलग-अलग लिया है। स्वशासन से बाल गंगाधर तिलक का तात्पर्य था कि स्वशासन, राजनीतिक रूप से स्वराज्य का ही एक अंग है, एक नाम है अर्थात् तिलक के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण वे स्वराज्य को मनुष्य का अधिकार ही नहीं बल्कि धर्म मानते थे उन्होंने स्वराज्य की नैतिक और आध्यात्मिक व्याख्या की।[3] राजनीतिक रूप में उन्होंने स्वराज्य का अर्थ स्वशासन बताया किन्तु नैतिक सन्दर्भ में इसका अर्थ आत्म नियन्त्रण की पूर्णता को माना जो कि सबसे बड़ा स्वधर्म है। स्वराज्य की प्राप्ति आत्मा की स्वतन्त्रता के आधार पर ही हो सकती है इसलिए उन्होंने नारा दिया कि ''स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर ही रहूँगा।'' तिलक ने ओजस्वी भाषण में भी

---

1. एस० ए० वोटपर्ट : तिलक एण्ड गोखले, रिव्यूलूशन एण्ड रिफार्म इन द मेकिंग ऑफ मार्डन इण्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस 1991 पृ० 300.
2. एस० ए० वोटपर्ट : तिलक एण्ड गोखले रिव्यूलूशन एण्ड रिफार्म इन द मेकिंग ऑफ मार्डन इण्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस, 1982-पृ० 300.
3. पुरूषोत्तम नागर : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, राजस्थान 1980, पृ० 190.

स्वशासन को नये दल का लक्ष्य बताया—"हम अपने हाथ में सम्पूर्ण अधिकार लेना चाहते है। मैं अपने घर की कुंजी लेना चाहता हूँ और केवल इसमें अपरिचित व्यक्ति को हटा देना हीं नहीं चहता, स्वशासन हमारा लक्ष्य है, हम अपने प्रशासन यन्त्र में अधिकार चाहते है। हम लिपिक बनना नहीं चाहते। वर्तमान समय में हम लोग लिपिक हैं और विदेशी सरकार के हाथों में हम अपने ही दमन के स्वेच्छा से साधन बने हुए है।"[1] स्वराज्य का यही अर्थ है कि भारत के शासन पर नौकरशाही का नियंत्रण जनता को हस्तान्तिरत कर दिया जाय। जिस प्रकार से इंग्लैण्ड में सम्राट की स्थिति एक नाम मात्र के शासन की और समस्त कार्य मंत्रियों की सलाह पर होता है उसी तरह भारत में जन प्रतिनिधियों के हाथों में वास्तविक सत्ता होनी चाहिए।[2]

दूसरी तरफ गोखले की दृष्टि में ब्रिटिश शासन एक ईश्वरीय देन था, अतः उससे पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद भारतीयों के लिए कल्याणकारी नहीं है। गोखले ने स्वशासन को एक भावनात्मक आवश्यकता और नैतिक तथा राजनीतिक उपलब्धि माना। इस प्रकार गोखले का यह मानना था कि प्रशासन में जो आर्थिक, राजनीतिक एवम नैतिक बुराईयाँ आ गयी है उनके निराकरण का एक मात्र उपाय स्वशासन ही है। उनके अनुसार—"ब्रिटिश अभिकरण के स्थान पर भारतीय अभिकरण को प्रतिष्ठित करना, विधान परिषदों का विस्तार और सुधार करते-करते उन्हें वास्तविक निकाय बना देना और जनता को सामान्यतः अपने मामलों का प्रबन्ध स्वयं करने देना।[3] गोखले ब्रिटिश शासन के पक्ष में अपना मत व्यक्त करते हुए कहते है कि "मैं चाहता हूँ कि भारत विश्व के महान् राष्ट्रों में राजनीतिक, औद्योगिक, धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक और कला के क्षेत्र में अपना उपयुक्त स्थान

---

1. वी० पी० वर्मा : लोकमान्य तिलक जीवन और दर्शन, लक्ष्मीनारायण अगव्रान प्रकाशक, आगरा 3, 1982, पृ० 205.
2. डी० वी० तहमानकर : लोकमान्य तिलक, फादर ऑफ द इण्डियन अनरेस्ट एण्ड दी मेकर ऑफ माडर्न इण्डिया, जान मरे लन्दन, 1956, पृ० 262.
3. टी० वी० पर्वते : बाल गंगाधर तिलक, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1958 पृ० 456.

ग्रहण करे। मेरी आकाँक्षा यही हैं कि ये सभी आदर्श ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही प्राप्त हो।"[1] अत: तिलक के विपरीत गोखले का विश्वास था कि अंग्रेज स्वभाव से न्यायप्रिय होते है तथा यदि उन्हें भारतीय दृष्टिकोण का सही ज्ञान करा दिया गया, तो वे इसे स्वीकार कर लेगें। इससे यह स्पष्ट होता है कि गोखले स्वसासन ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत चाहते थे। **विपिन चन्द्र पाल** ने भी दोनों के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "वे (नरमदलीय-गोखले) भारत सरकार को लोकप्रिय बनाना चाहते है, परन्तु किसी प्रकार भी वे ब्रिटिश शासन को खत्म नहीं करना चाहते, हम इसे स्वशासी बनाना चाहते हैं और ब्रिटिश नियन्त्रण से इसे सर्वथा मुक्त रखना चाहते है।"[2]

साधन— कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में अपने विचार व्यक्त करते हुए तिलक ने कहा "कांग्रेस ने अब यह सिद्धान्त निर्धारित किया है कि स्वशासन लक्ष्य है जिसे अन्तोगत्वा और धीरे-धीरे राष्ट्र को प्राप्त करना है, और जब राष्ट्र संवैधानिक संघर्ष के अंग के रूप में सरकार से प्रार्थना करेगा और आवेदन देगा और अपनी माँगों की पूर्ति कराना चाहेगा या राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की सफलता चाहेगा उस समय राष्ट्र मुख्यत: इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने प्रयासों पर निर्भर रहेगा। राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा हमारे हाथ में **स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा ये तीनों शक्तिशाली अस्त्र** दिये गये है और इनकी सहायता से हमें स्वराज्य की स्थापना अवश्य करनी चाहिए।"[3]

बाल गंगाधर तिलक के उपर्युक्त उद्‌गार से हम उनके सम्पूर्ण विचारों, कार्यों का सार जान सकते हैं। इन विचारों में तिलक ने **'गागर में सागर'** वाली कहावत सही सिद्ध कर दी है।

राजनीतिक विचारधारा और लक्ष्य की दृष्टि से तो तिलक गोखले से भिन्न थे ही, परन्तु साधन को लेकर भी उनसे भिन्न विचार रखते थे। तिलक ने अपने लक्ष्य स्वराज्य की प्राप्ति के साधन में

---

1. टी० वी० पर्वते : बाल गंगाधर तिलक, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस अहमदाबाद, 1958, पृ० 457.
2. वी० पी० वर्मा : लोकमान्य तिलक जीवन और दर्शन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक आगरा-3, 1982, पृ० 205.
3. वी० पी० वर्मा : लोकमान्य तिलक जीवन और दर्शन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक आगरा-3, 1982-पृ० 205.

बहिष्कार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा को प्रमुखता दी। नेविन्सन ने तिलक के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि "अपने उद्देश्य के कारण ही नहीं, वरन् उसे प्राप्त करन के उपायों के कारण उन्हें उग्रवादियों की उपाधि मिली है।"[1] तिलक का मानना था कि इंग्लैण्ड जैसे स्वतन्त्र और लोकतन्त्रात्मक देश में तो वैधानिक आन्दोलन के आधार पर राजनीतिक परिवर्तन किये जा सकते है लेकिन भारत जैसे देश में संवैधानिक आन्दोलन के आधार पर स्वतन्त्रता प्राप्त करने का स्वप्न देखना स्वयं को ही धोखा देना है।

तिलक के विपरीत गोखले ने श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधनों के अपनाने पर जोर दिया। **गोखले का विश्वास था** कि "देश का पुनर्निर्माण राजनीतिक उत्तेजना की आंधी में नहीं बल्कि धीरे-धीरे ही हो सकता है। इस धीमी प्रक्रिया में समस्या का वास्तविक हल था, अंग्रेजी की प्रकृति के पहलू पर विजय पाना और इस प्रकार उनकी सहायता व समर्थन करना।"[2] उन्होंने आगे कहा "भावी भारत परमेश्वर की कृपा से घटती हुयी समृद्धि, खाली आशा और असन्तोष का भारत नहीं होगा बल्कि सदा फैलने वाले उद्योगों, जाग्रत क्षमताओं, बढ़ती हुई समृद्धि तथा अधिक समान रूप से बँटी हुई दौलत और ऐश्वर्य का भारत होगा। मुझे अपने लक्ष्य और चेतना में पूरा विश्वास है और इसकी असीमित क्षमताओं में मैं विश्वास करता हूँ; परन्तु भारत का भविष्य अंग्रेजी ताज की अगाध सर्वोचता से ही प्राप्त किया जा सकता है।[3] गोखले, कांग्रेस में नवोदित उग्र गुट के, उग्रविचारों के साधनों तथा असंवैधानिक मार्ग के वह विरुद्ध थे। उनके अनुसार हिंसा से उत्पन्न प्रतिहिंसा, घृणा विद्वेष तथा नरसंहार भारत की समस्याओं का स्थायी हल नहीं हैं।[4] अत: अपने लक्ष्य को प्राप्त करने

---

1. नेविन्सन : द न्यू स्पिरिट इन इण्डिया, पृ० 226.
2. गोखले स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, नटेसन मद्रास, 1920, पृ० 38.
3. गोखले स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, वही, पृ० 38.
4. आर० पी० पराँजपे : गोपाल कृष्ण गोखले, आर्य भूषण प्रेस, पूना 1915 पृ० 87.

के साधन के रूप में गोखले ने प्रार्थना पत्रो, स्मृतिपत्रों, और प्रतिनिधि मण्डलों (Prayer. Petition. Deputation) का मार्ग अपनाया। **टी० आर० देवगिरिकर** ने गोखले के राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालते हुए बताया कि "शासन तन्त्र के विरुद्ध युद्ध करते समय गोखले ने वैधानिक मार्ग अपनाया। उनका प्रयास यह था कि तथ्यों तथा तर्कों को अपनी बात का आधार बनाया जाए और समझा-बुझाकर उन लोगों के विचार बदले जाएं जिनका कुछ महत्व है।"[1]

स्वदेशी—किसी भी महान लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक ऐसे मार्ग की आवस्यकता होती है जो लक्ष्य की प्राप्ति की ओर शत प्रतिशत ले जाए और पूर्ण सफलता प्राप्त करने में सहायक सिद्ध हो। इसी प्रकार बाल गंगाधर तिलक, जिनका लक्ष्य स्वराज्य की प्राप्ति था उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए स्वदेशी और बहिष्कार का मार्ग अपनाया। ये दोनों ही मार्ग उनके स्वभावानुकूल थे। यहाँ यह बात प्रासंगिक है कि तिलक याचना पर विश्वास नहीं रखते थे अत: उन्होंने स्वदेशी और बहिष्कार को एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। उन्होंने स्वदेशी के सन्देश को महाराष्ट्र के कोने-कोने तक पहुँचा दिया तथा राष्ट्रीय स्तर पर इसकी व्यापकता तथा सफलता की संभावनाओं का अनुमान लगाकर अपने सहयोगियों द्वारा इसका सन्देश देश के कोने-कोने तक पहुँचाने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। यद्यपि स्वदेशी का आरम्भ उदारवादियों ने एक आर्थिक आन्दोलन के रूप में किया था किन्तु तिलक ने इस आन्दोनल का प्रयोग रजानैतिक चेतना उत्पन्न करने के लिए किया।

तिलक के ही शब्दों में जो उन्होंने केसरी में लिखा—"हमरा राष्ट्र एक वृक्ष की तरह है जिसका मूल तना स्वराज्य है और स्वदेशी तथा बहिष्कार उसकी शाखाएँ है।"[2] तिलक ने स्वदेशी से ही स्वराज्य का मार्ग खोजा। तिलक ने स्वदेशी का व्यापक अर्थ लेते हुए इसका प्रयोग शिक्षा, विचारों, और जीवन पद्धति के रूप में किया। जहाँ एक ओर तिलक के स्वदेशी पर विचार इस

---

1. टी० आर० देवगिरिकर : गोपाल कृष्ण गोखले, निदेशक, प्रकाशन विभाग, पुराना सचिवालय, दिल्ली-6, 1967, पृ० 116.
2. विपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी वरूण दे : स्वतन्त्रता संग्राम, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, दिल्ली 1972 पृ० 89.

प्रकार थे वहीं दूसरी ओर गोखले स्वदेशी के अर्थ में उदारवादी मार्ग के पक्षधर थे। उनकी स्वदेशी की जो धारणा थी वह मनुष्य के हृदय में देश के प्रति परमोत्कृष्ट अथवा सुन्दर विचार से है। अगर कहा जाय तो गोखले के स्वदेशी पर विचार भावनात्मक रूप लिए हुए हैं।

तिलक के स्वदेशी का यह अर्थ था कि जो पाश्चात्य विचार, पाश्चात्य धर्म एवं दर्शन की जो श्रेष्ठता स्थापित करने का जो प्रयत्न चल रहा है वह भारतीय जनमानस से लुप्त कर दे और भारतीयों के मन मस्तिष्क को स्वदेशी बना कर उनमें स्वाधीनता की भावना भर दी जाए। वहीं गोखले की स्वदेशी की भावना मातृभूमि के लिए ही थी किन्तु अलग विचार और भाव लिए हुए। यह भाव और विचार राजनीतिक रूप न लेकर सामाजिक रूप लिए हुए थे। क्योंकि उन्होंने कहा मातृभूमि के लिए त्याग ही सर्वोत्तम स्वदेशी भावना है। इसकी वास्तविक अनुभूति से मनुष्य परमानन्द की स्थिति में पहुंच जाता है और भारत को आज इसी अनुभूति की सबसे अधिक आवश्यकता है। स्वदेशी के विचार का प्रभाव यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति, देश की सेवा में लग जाता हैं।

तिलक ने जहाँ एक ओर स्वदेशी की भावना जागृत करने के लिए लेखों और भाषणों का सहारा लिया वहीं दूसरी ओर उन्होंने गणेश महोत्सव एवं शिवाजी महोत्सव का आयोजन बड़े व्यापक पैमाने पर किया। तिलक देश भक्ति को जागृत करने के लिए हिन्दू प्रतीको का सहारा ले रहे थे तथा धर्म की उच्चता को भी स्थापित करना चहाते थे। वहीं दूसरी ओर गोखले ने स्वदेशी के आदर्श को व्यवहार में लाने के लिए आवश्यक विचारों की रूप रेखा प्रस्तुत की जो तिलक से भिन्नता लिये हुये थी। गोखले ने हथकरघा उद्योग का पुनरूत्थान करने और उसे आधुनिक रूप देने के महत्व पर बहुत जोर दिया ताकि किसानों की अतिरिक्त आय हो सके। क्योंकि गोखले के मस्तिष्क में सदा ही ये विचार रहते थे कि भारतीय जनमानस सामाजिक सुधार के साथ-साथ आर्थिक सुधार भी प्रारम्भ करे। इसी के परिपेक्ष्य में उन्होंने नमक को कर मुक्त करने की माँग भी रखी थी। गोखले ने इसके लिए किसी प्रकार के धार्मिक प्रतीको का सहारा नहीं लिया उन्होंने गणेश उत्सव, या शिवाजी उत्सव जैसे किसी साधन को स्वदेशी के लिए प्रयोग नहीं किया।

बहिष्कार—तिलक ने स्वराज्य प्राप्ति के लिए बहिष्कार का भी प्रयोग एक अस्त्र के रूप में किया। बहिष्कार का मूल उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के आर्थिक ढांचे को नुकसान पहुँचाना था। अर्थात आर्थिक हितों पर दबाव डालकर अपनी मांगे मनवाने के लिए विवश करना था इसमें इस बात की जनजागृति पैदा की गई कि ब्रिटिश सरकार की व्यवसायिक नीति भारत के आर्थिक विनाश के लिए उत्तरदायी है।

तिलक के बहिष्कार आन्दोनल की मुख्य प्रवृत्ति तो विदेशी वस्तुों के ही विरुद्ध थी, परन्तु इसकी व्यापक व्याख्या में, इसमें सरकार के साथ सहयोग, सरकारी नौकरियों, प्रतिष्ठानों तथा उपाधियों का बहिष्कार भी शामिल था।

तिलक ने बहिष्कार आन्दोलन को एक राजनीतिक स्वरूप दिया। बहिष्कार आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ावा देना था और दूसरे ब्रिटिश सरकार से अपनी मांगे मनवाने के लिए विवश करना था। बहिष्कार आन्दोलन का ब्रिटिश व्यापार पर आशानुकुल फल प्राप्त हुआ। इसका असर इंगलिशमैन जैसे मुख्य पत्र के समाचार से जाना जा सकात है। "बहुत सी प्रमुख मारवाड़ी फर्मों का व्यवसाय नष्ट हो गया है और यूरोपीय वस्तुओं का आयात करने वाली कई बड़ी-बड़ी कम्पनियों को या तो अपनी शाखाएं बन्द कर देनी पड़ी हैं, या थोड़े से व्यवसाय से ही सन्तुष्ट होना पड़ रहा है। गोदामों में माल जमा होता जा रहा है दरअसल अब समय आ गया है जब बहिष्कार से व्यापार को कितनी हानि हुयी यह स्पष्ट कर लिया जाए। बहिष्कार करने वालों को प्रोत्साहित करने का कोई प्रश्न ही नहीं क्योंकि उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता इस बात की है कि ब्रिटिश जनता और भारत सरकार को इस तथ्य के प्रति जागरूक कर दिया जाए कि बहिष्कार के रूप में ब्रिटिश राज्य के शत्रुओं के हाथ एक ऐसा हथियार आ गया है कि इस देश में ब्रिटिश हितों को गहरी चोट पहुँचाने में कारगर है बहिष्कार के प्रति ढिलाई या सहमति की गई तो ये

किसी सशस्त्र क्रान्ति से भी अधिक खतरनाक साबित होगा जब भारत के साथ स्थापित ब्रिटेन का सम्बन्ध निश्चय ही टूट जाएगा।''[1]

गोखले बहिष्कार के प्रति अपना भिन्न दृष्टिकोण रखते थे। बहिष्कार को एक ऐसा अस्त्र मानते थे जिसका प्रयोग और कोई चारा बाकी न रहने पर ही किया जाना चाहिए। शासितो की शिकायतों की ओर प्रशासन का ध्यान आकृष्ट करने का ये एक उपयोगी साधन था। गोखले इसे विधि सम्मन हथियार मानते थे। इसे काम में लाने से पहले यह आवश्यक था कि सभी ओर किसी सामान्य संकट का अनुभव किया जाए और सभी व्यक्तिगत मतभेद दूर कर दिये जाए।[2] अर्थात् गोखले बहिष्कार का प्रयोग तभी करने के पक्षधर थे जब सभी विधि सम्मत और संवैधानिक तरीके के मार्ग बन्द हो चुके हो। तथा उन लेख, ज्ञापन या प्रार्थना पत्र देने से काम न चल रहा हो और न्याय की उम्मीद भी न रह गई हो। गोखले के बहिष्कार में कहीं यह भावना निहित थी कि अंग्रेजों के आर्थिक हितों को नष्ट करने के अवसरों से बचा जाय तथा सहमति पूर्वक लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके।

शिक्षा—किसी भी देश में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रगति तभी हो सकती है जब वहाँ का जनमानस शिक्षित हो। किसी भी देश के पिछड़ने का एक प्रमुख तत्व जनमत में व्याप्त अशिक्षा ही होता है। अशिक्षित जनता न तो अपने राजनीतिक अधिकारों के प्रति जागरूक होती है और न ही कर्त्तव्यों के प्रति। अत: शिक्षा ही वह सशक्त माध्यम है जिसकी सहायता से राष्ट्र सेवा और जनसेवा की जा सकती है। इसलिए तिलक और गोखले, सर्वप्रथम अपने देश के लोगों को ज्ञान का प्रकाश प्रदान करना चाहते थे। जिससे सभी प्रकार के अन्धकार दूर हो सके।

---

1. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1969 पृ० 110 111.
2. टी० आर० देवगिरिकर : गोपाल कृष्ण गोखले, निदेशक प्रकाशन विभाग, पुराना सचिवालय, दिल्ली-6 1967 पृ० 160.

तिलक और गोखले दोनों ही राष्ट्रसेवा के लिए शिक्षा को एक प्रमुख अस्त्र मानते थे। और दोनों ही अपने-अपने तरीकों के इस्तेमाल से शिक्षा का प्रचार प्रसार कर रहे थे यह अलग बात है कि दोनों के विचार इस मुद्दे पर भी भिन्न थे।

तिलक शिक्षा के सम्बन्ध में नरमदलीय नेताओं के विचारों से सन्तुष्ट नहीं थे। नरम दल भारत में प्रचलित शिक्षा प्रणाली के लिए अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञ था। जबकि तिलक का यह मानना था कि यह शिक्षा प्रणाली छात्रों को देश की सही स्थिति का ज्ञान नहीं करा रही है। तिलक वास्तविक शिक्षा उसी को मानते थे जो रोजगार उन्मुख हो तथा उसमें देश के सच्चे नागरिक गुणों का संचार करने की क्षमता हो और जो पूर्वजों के ज्ञान का अनुभव दे।[1] वहीं दूसरी ओर गोखले ब्रिटिश शासन के कल्याणकारी स्वरूप में पूर्ण आस्था सखते ते। उनकी धारणा थी कि ब्रिटिश से सम्पर्क बनाए रखने से भारतीयों की बौद्धिक प्रतिभा चमकेगी, दृष्टिकोण विकसित होगा, और भावी भारत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होगा। गोखले ब्रिटिश सम्पर्क को इसलिए भी भारत के लिए वरदान स्वरूप मानते थे कि उसके कारण भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रवेश हुआ। पाश्चात्य शिक्षा गोखले की दृष्टि में भारत के लिए एक मुक्ति दायिनी शक्ति थी, और इसका अधिकाधिक विस्तार होना चाहिए था।

तिलक राष्ट्रीय शिक्षा के पक्षधर थे उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा का एक ऐसा पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जो व्यावहारिक था, और देशवासियों से सर्वांगीर्ण विकास में सहायक था। राष्ट्रीय शिक्षा के सन्दर्भ में तिलक के मुख्य विचार बिन्दु में सबसे प्रमुख उद्योग एवं प्राविधिक शिक्षा, शैक्षणिक पाठ्यक्रम का अंग बने इसके पीछे तिलक की यह भावना कार्य कर रही थीं कि इसके बिना देशवासियों को इसना ज्ञान कभी नहीं हो पायेगा कि आयात-निर्यात की शोषण नीति से विदेशी हुकूमत भारत को दारिद्र बना रही हैं तथा पाश्चात्य शिक्षा अंग्रेजी शासन के लिए 'बाबू' वर्ग पैदा करने का एक यन्त्र हो गयी

---

1. रामगोपाल : लोकमान्य तिलक, पृ० 114.

है। तिलक की शिक्षा प्रणाली की अन्य मुख्य बाते जिसमें धार्मिक शिक्षा पर बल, स्वतन्त्र देशों जैसी शिक्षा, प्रणाली पर बल, मातृभाषा को प्रधानता 'एक लिपि एक राष्ट्रभाषा' का समर्थन थी। तिलक राष्ट्रीय एकता और भाषाभेद से विभाजित देश की एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा को महत्वपूर्ण तत्व मानते थे वास्तव में तिलक पहले कांग्रेसी नेता थे जिन्होंने देवनागिरी लिपि में लिखी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सुझाव दिया।[1]

जैसा कि सर्वविदित है गोखले सामाजिक सुधार के पक्षधर थे अत: वो देश की तात्कालीन दशा में पाश्चात्य शिक्षा का सबसे बड़ा कार्य भारतीय मानस को पुराने जीर्णशीर्ण विचारों की दासता से मुक्त करना और उसमें पाश्चात्य जीवन चरित्र और चिन्तन के सर्वोत्तम कृत्वों को अनुप्राणित करना था। क्योंकि उनका यह मानना था कि हिन्दू धर्म में व्याप्त कुरीतियां एंव अन्ध विश्वास तभी समाप्त होंगे जब पाश्चात्य की आधुनिक विचारों की शिक्षा का ज्ञान देशवासियों को होगा। इसलिए उन्होंने कहा कि "यदि भारतीय पाश्चात्य शिक्षा का बहिष्कार करेंगें तो यह गम्भीर भूल होगी।"

राष्ट्रवाद, पुनरूत्थान वाद तथा हिन्दू धर्म—तिलक कभी भी यह स्वीकार न कर पाये कि अंग्रेजी शासन हमारे लिए वरदान स्वरूप है न ही कभी उन्होंने यह स्वीकार किया कि ब्रिटिश शासन हमारे लिए दुनिया से जोड़ने वाला या विकास का सेतु है। उनके विचारों से तो अंग्रेजी साम्राज्यवाद भारतीय विकास के लिए एक गहरी खाई के समान था। इसलिए तिलक का राष्ट्रवाद अंशत: पुनरूत्थानात्मक अभिविन्यास था।[2]

तिलक का अपनी प्राचीन परम्पाओं धर्म एवं ग्रन्थों पर अटल विश्वास था। वे राष्ट्र में आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक उत्साह भरने के लिए वेद और गीता के वर्चस्वी सन्देशों का प्रचार करना चाहते

---

1. गम गोपाल : लोकमान्य तिलक, पृ० 115.
2. द ओरियन पृ० 464.

थे। इसलिए उन्होंने शिवाजी और गणपति महोत्सव को प्रोत्साहित किया। क्योंकि वे सम सामाजिक घटनाओं और आन्दोलनों को ऐतिहासिक परमपराओं से जोड़ते थे।[1] व्यक्ति के रूप में हिन्दू धर्म और संस्कृति पर उन्हें पूर्ण गर्व या राजनीतिक नेता के रूप में हिन्दू जनता के वैधानिक हितों को वे सुरक्षित रखना चाहते थे और वे कायरता और समपर्ण को स्वीकृति नहीं दे सकते थे। परन्तु इससे यह अनुमान लगाया जाना अनुचित होगा कि वे मुसलमान विरोधी थे।

तिलक के विपरीत गोखले अंग्रेजों के आगमन को ईश्वरीय वरदान मानते ते इसके मानने के पीछे उनका यह स्वार्थ कार्य कर रहा था कि भारतीयों की आँखे पाश्चात्य शिक्षा एवं नयी-नयी खोजों से खुल जाएगी। तथा वे अपने आप को एक नयी दुनिया के अनुरूप बना लेगें। अत: गोखले ने हरदम यह माना कि हमें पाश्चात्य धर्म और दर्शन से अपने को परिचित कराना चाहिए तथा जो शिक्षाएँ और तथ्य हमारी परिस्थितियों के अनुकूल हो उन्हें ग्रहण करे हम कह सकते हैं कि गोखले का हिन्दुत्व पुनरूत्थान अपनी ऐतिहासकि परम्परा के साथ-साथ नवीन पाश्चात्य विचारों को भी ग्रहण करने में भी विश्वास रखते थे। गोखले ने राजनीति का आध्यात्मीकरण किया। राजनीति का आध्यात्मीकरण का अर्थ नैतिकता तथा उच्च उद्देश्यों को लेकर, सार्वजनिक जीवन में शुचिता' लाना है। यही राजनीति का अध्यात्मीकरण आगे महात्मा गांधी के लिए एक प्रेरक तत्व बन गया।[2] और इसलिए गांधी जी ने गोखले को अपना राजनीतिक गुरू स्वीकार किया।

इस प्रकार राजनीति में तिलक उग्र विचारों के थे, जिस पर उन्हें गर्व था, गोखले राजनीति में उदार विचारों के थे। वह राजनीति का आध्यात्मीकरण करना चाहते थे। उनका कहना था कि ब्रिटिश सर्म्पक नियत का विधान है और भारत के हित में है। तिलक का विचार था कि राजनीति दुनियादार लोगों का एक खेल है। ये भारत पर ब्रिटिश विजय को न्यायोचित ठहराने के लिए इस

---

1. वी० पी० वर्मा : लोकमान्य तिलक जीवन और दर्शन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक आगरा-3, 1982 पृ० 448.
2. आर० पी० पराँजपे : गोपाल कृष्ण गोखले, आर्य भूषण प्रेस, पूना 1915 पृ० 85.

प्रकार की दैवी इच्छा और नियति पर विश्वास करने वाले नरम दल वालों की तीव्र भर्त्सना करते थे। गोखले अनुनय विनयपूर्वक समझाने-बुझाने, अपील करने और वैधानक ढंग से विरोध प्रकट करने में विश्वास करते थे। तिलक आत्मसम्मान, आत्मनिर्भता और शक्ति पैदा करने की कोशिश करते थे।[1]

सामाजिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन

बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले जिस युग में सक्रिय थे वह युग भारतीय इतिहास में एक काले वृष्ठ के रूप में अंकित था। इस समय समाज, विकृत धर्म से प्रेरित था। अर्थात् कुछ पाखण्डियों द्वारा अपने हित में समाज पर धर्म का मुलम्मा चढ़ाकर अनेकों अन्धविश्वास और कुरीतियों का पालन करने के लिए समाज को बाध्य करते थे। इन कुरीतियों के चलते समाज इतना विभक्त था कि उनके मध्य एकता उत्पन्न करना बहुत ही कठिनाई भरा कार्य था। इसी सामाजिक फूट के चलते ही औपनिवेशिक शक्तियाँ लाभ उठा रही थी। क्योंकि इनका सिद्धान्त ही था कि "फूट डालों और राज्य करो।" वे यह कभी नहीं चहते ते कि भारतीय समाज एकताबद्ध हो क्योंकि वे जिस आधार पर अपने शासन की नैतिकता को सिद्ध करते थे वो आधार ही ध्वस्त हो जाता। क्योंकि वे तो असम्य भारतीय समाज को सभ्य करने का ठेका लेकर राज्य कर रहे थे। अब आवश्यकता इस बात की थी कि पहले समाज को संगठित किया जाय। अत: इस बात को ध्यान में रखकर ही बाल गंगाधर तिलक तथा गोपाल कृष्ण गोखले दोनों ने भारतीय समाज को शुद्ध एवं आधुनिक करने का बीड़ा उठाया क्योंकि दोनों का ही मानना था कि समाज की उन्नति से राष्ट्र की उन्नति सम्भव है। यह अलग बात है कि दोनों ने ही भिन्न मार्गों का अनुसरण किया। परन्तु लक्ष्य की समानता में, जो स्वराज्य था पर कोई शंका नहीं थी।

---

1. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली, 1969, पृ० 215.

''जो लोग समाज के नेता बनते है उन्हें चाहिए कि वे स्वयं उदाहरण उपस्थित करे यदि कोई सुधार जनता पर ऊपर से लादा जायेगा तो वह सफल नहीं हो सकता।''[1] इसी एक वक्तव्य से तिलक के सामाजिक सुधार आन्दोलन जो कि उनका सामाजिक सुधार दर्शन कहलाता था के मार्ग को समझा जा सकता है। तिलक भी सामाजिक सुधार चाहते थे लेकिन उनका मार्ग तात्कालीन प्रभाव से भिन्न था। जहाँ तत्कालीन नेता सरकार से मिलकर सुधार कानून बताने और सुधार करने के पक्षधर थे वहाँ तिलक सामाजिक सुधार को सरकार के माध्यम से लादना उपयुक्त नहीं समझते थे। उनका मानना था कि सामाजिक सुधार शनैः-शनैः और जन जागृति से आना चाहिए क्योंकि समाज को पन्थों, सम्प्रदायों, गुटो आदि में विभक्त होने से बचाने का यही एक सर्वोत्तम मार्ग है। जहाँ यह बात प्रासंगिक है कि तिलक कोई भी सुधार हिन्दू संस्कृति के परम्परागत नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के परिपेक्ष्य में ही चाहते थे। तथा इस सिद्धान्त को ठेस पहुँचे यह उन्हें स्वीकार नहीं था। यहाँ यह बात अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि समकालीन अधिकांश नेताओं के विपरीत तिलक की मान्यता थी कि सामाजिक सुधारों से पहले देश को राजनीतिक उन्नति, राजनीतिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय जागरण की आवश्यकता थी। यदि देश राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ जाता है तो समाज सुधारे के क्षेत्र में वह स्वतः ही आगे बढ़ जायेगा। तिलक समाज सुधार से पहले राजनीतिक सुधार पर जोर देते थे, वो कभी भी रूढ़िवादी नहीं थे वरन् अस्वस्थ्य पुरानी परम्पराओं को बदलने के पक्ष में थे।[2] तिलक समाज सुधार के कार्य में अत्यधिक शक्ति व्यय न करके पहले सम्पूर्ण शक्ति राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए संचित रखना चाहते थे। क्योंकि उनको अहसास था कि ब्रिटिश शासक राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति से भटकाने के लिए इस बात के लिए उकसाते थे कि पहले सामाजिक सुधार किया जाय।

---

1. रामगोपाल : लोकमान्य तिलक, पृ० 37.
2. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1969, पृ० 27.

तिलक ने वर्मा और श्रीलंका का उदाहरण देकर यह समझाने का प्रयत्न किया कि इन देशों की सामाजिक दशाएँ भारतीय समाज से बेहतर है परन्तु राजनीतिक सत्ता न होने के कारण उनकी दशा भी हम भारतीयं से भिन्न नहीं है।[1]

तिलक का यह सोचना था कि यह जो सामाजिक आन्दोलन सरकार की सहायता से चलाया जायेगा यह पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित होगा और हम सुधार अपनी सांस्कृतिक विरासत के अनुसार ही करना चाहते है।

जहाँ एक ओर समाज सुधार में तिलक की सक्रिय भागीदारी थी। वहीं दूसरी ओर गोखले ने समाज सुधार आन्दोलन में तिलक के समान सक्रिय भाग नहीं लिया लेकिन इससे यह नहीं समझा जा सकता कि गोखले समाज सुधारक नहीं थे।

गोखले का समाज सुधार कार्यक्रम सरकार के साथ मिलकर करना था। गोखले के समाज सुधार के कार्यक्रम में यदि पाश्चात्य जगत की जो अच्छाइयाँ है वह यदि शामिल हो जाय तो इसको वह गलत नहीं मानते थे अपितु वो तो यह चाहते ही थे कि यूरोपीय पुर्नजागरण का भारतीय समाज भी लाभ उठा सके। यदि गोखले के समाज सुधार के कार्यक्रम को देखा जाय तो उसमें जो सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है, वह है भारतीय समाज की वर्ण व्यवस्था से उत्पन्न जातिवाद की बुराई। वे अस्पृश्यता और जातिवाद के घोर विरोधी थे।[2] वे भारत के दलित जातियों के प्रबल समर्थक थे। यहाँ यह बात बताना भी प्रासंगिक है कि उनके स्वराज्य का मार्ग समाजिक सुधार के कार्यक्रमों से होकर गुजरता था अर्थात् राजनीतिक चेतना के लिए सामाजिक सुधार आवश्यक था।

---

1. राम गोपाल : लोकमान्य तिलक, पृ० 100.
2. एस० ए० वोतपर्ट : तिलक एण्ड गोखले, रिव्यूलूशन एण्ड रिफार्म इन द मेकिंग ऑफ मार्डन इण्डिया, आक्सफोर्ड यूनिर्सिटी प्रेस, 1991, पृ० 305

तिलक ने अपने सामाजिक सुधार कार्यक्रम में सुधार के सभी महत्वपूर्ण पहलुओं को स्पर्श किया। उनका जातिपाति के भेदभावों और अस्पृश्यता में विश्वास नहीं था। गणपति उत्सवों में वे अछूतों को सवर्ण हिन्दूओं के समान स्थान देते थे। अन्य जातियों के साथ बैठकर भोजन करने में उन्हें कोई हिचक नहीं थी। लोकमान्य तिलक बाल विवाह के विरोधी और विधवा विवाह के समर्थक थे। मद्यपान, दहेज का चलन आदि सामाजिक कुरीतियों से उन्हें नफरत थी।[1]

तिलक नेताओं को यह आह्वाहन करते ते कि पहले खुद में सुधार लाओं तभी तुम आदर्श उपस्थित कर सकोगें। **तिलक ने स्पष्ट रूप से कहा—**''आज समाज सुधार की बड़ी चर्चा है किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हमें जनता को सुधारना है और यदि हम अपने को जनसमूह के अलग कर लेंगे, तो कोई भी सुधार असम्भव होगा। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण यह है कि यद्यपि विधवा विवाह आवश्यक है फिर भी बहुत से समाज सुधारक अपने परिवारों में इस पर अमल करने को तैयार नहीं है। अत: मेरे विचार से हर एक आदमी पहले अपने को सुधार कर दूसरोके सामने एक उदाहरण रखे और उन्हें समाज सुधार की प्रेरणा प्रदान करे, न कि केवल उपदेश भर देता रहे। सुधार का उपदेश देने वाले लोग पहले अपने उपदेशों का पालन स्वयं करे।''[2]

जहां तक गोखले का प्रश्न है उनपे एक यह भी आरोप था कि पहली पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह कर लेने का बोझ उनके अर्न्तमन में इतना अधिक रहा कि वो समाज सुधार कार्यक्रम का नेतृत्व करने की मन:स्थित में नहीं रह गये। हो सकता है यह बात कुछ हद तक सत्य हो क्योंकि उनकी धारणा थी कि यदि किसी कार्य पर स्वयं अमल न किया जाय तो उसके लिए दूसरों को सलाह

---

1. वी० पी० वर्मा : लोकमान्य तिलक जीवन और दर्शन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशक आगरा 3, 1982, पृ० 39.
2. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1969 पृ० 30.

देना उचित नहीं है।[1] यदि देखा जाय तो गोखले द्वारा जो सामाजिक सुधार किया गया है वह शिक्षा के माध्यम से जन जागृति करके ही है। गोखले ने एक शिक्षक के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया था अत: वो भारत की शिक्षा प्रणाली से पूर्ण रूप से परिचित थे। उनका प्रथम सामाजिक सुधार प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह बालक हो या बालिका अनिवार्य एवं नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा इसी के चतले 1907 के बजट भाषण में उन्होंने नि:शुल्क शिक्षा की मांग रखी तथा 1911 में भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में शिक्षा से सम्बन्धित एक विधेयक प्रस्तुत किया। दुर्भाग्य से यह विधेयक पास तो नहीं हो पाया लेकिन गोखले ने प्रयास तो किया तथा अपनी आकांक्षा को सरकार एवं जनता के सामने प्रकट कर दिया। दिसम्बर 1903 में जब विश्वविद्यालय विधेयक प्रस्तुत किया गया जिसके अन्तर्गत सभी विश्व विद्यालय सरकारी नियन्त्रण के अधीन हो जायेंगे तब गोखले की एक शिक्षाविद् आत्मा उठ खड़ी हुयी और इस विधेयक का विरोध किया।[2]

गोखले क्योंकि इस विचारधारा के थे कि शिक्षा के विस्तार द्वारा श्रम से उत्पन्न लाभ का उचित वितरण किया जा सकता है श्रम का बंटवारा सामाजिक शांति एवं सामान्य समृद्धि का द्योतक है। गोखले पाश्चात्य शिक्षा के प्रबल समर्थक थे, पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार पर अपना विचार प्रस्तुत करते हुये उन्होंने कहा था—''मेरे विचार से भारत की वर्तमान अवस्था में पाश्चात्य शिक्षा का सबसे बड़ा कार्य विद्या को प्रोत्साहन देना उतना नहीं है जितना कि भारतीय मस्तिष्क को प्राचीन विचारों की दास्ता से मुक्ति दिलाना तथा पश्चिम के जीवन तथा विचार और चरित्र में सर्वोत्तम तत्वों को आत्मसात करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु न केवल उच्चतम वरन् सभी पाश्चात्य शिक्षा उपयोगी है।''[3] गोखले को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि शिक्षा के विस्तार मात्र से भारत अपनी समस्याओं

---

1. टी. आर. देवगिरिकर : गोपाल कृष्ण गोखले, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली 6, 867, पृ. 25 26।
2. टी० वी० पर्वते : गोपाल कृष्ण गोखले, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ० 170.
3. स्पीचेज ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, नटेसन मद्रास, 1920, पृ० 361.

तथा कठिनाइयों को हल नहीं कर सकता था। जीवन में संघर्ष का ही रहता केवल शिक्षा से ही निर्धनता का अन्त नहीं हो सकता। किन्तु उचित शिक्षा द्वारा व्यक्तित्वों में जिस नवीन आत्मनिष्ठा का विकास होगा उससे वो आर्थिक व राजनीतिक शोषण का प्रतिकार कर सकेंगे, और मानवीय गरिमा के संरक्षण का उचित वातावरण बन सकेगा।[1]

गोखले का यह विश्वास निरर्थक साबित नहीं हुआ तथा उनके द्वारा भारत में पाश्चात्य शिक्षा का जो प्रसार किया गया उससे दोक्षित होकर लोगों में एक नयी राजनीतिक चेतना विकसित हुयी और वे जानने लगे कि समानता क्या है? स्वतन्त्रता क्या है? हमारे क्या अधिकार है? हम इन अधिकारों की मांग किससे व कैसे करे जिससे सामाजिक और राजनीतिक न्याय मिल सके तथा धीरे-धीरे स्वराज्य की प्राप्ति हो जाय।

बाल गंगाधर तिलक तथा गोपाल कृष्ण गोखले दोनों ने अपनी-अपनी भूमिका बड़ी निष्ठा तथा ईमानदारी से निभाई। जहां तक इनकी तुलना का प्रश्न है वो तो बड़ा असम्भव सा ही कार्य है। क्योंकि जो अतुलनीय है उसकी तुलना कौन कर सकता है। जब दो प्रकाण्ड विद्वान् जिनके विषय में यह प्रचलित रहता है कि वे एक दूसरे के विरोधी है तो यह सिर्फ उनके एक ही पक्ष को जानना है क्योंकि कोई भी महान विभूति एक दूसरे के विरोधी नहीं होती है और जो मतभेद सामने दृष्टिगोचर होता है वह सिर्फ वैचारिक भिन्नता के कारण। लेकिन ऐसे व्यक्ति एक दूसरे के परम सहयोगी एवं परम प्रशंसक होते हैं और दोनों एक दूसरे के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होते हैं इसी प्रकार तिलक और गोखले का मतभेद राजनीतिक संकटों को लेकर उतना नहीं था जितना कि सैद्धान्तिक विचारों को लेकर, वे दोनों ही विभिन्न दायरों में चक्कर काटते प्रतीत होते थे। लेकिन वास्तव में उनकी भमिकाएं एक दूसरे की पूरक थी। दोनों परस्पर एक दूसरे के हाथ मजबूत करते थे।''[2]

---

1. वही, पृ० 49-50.

2. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली–

तिलक और गोखले दोनों का चोली दामन का साथ था एक के बिना दूसरा अधूरा था, और दूसरे के बिना पहला। दोनों एक दूसरे के प्रति किस प्रकार का भाव रखते थे वो इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि व्यक्तिगत रूप से गोखले तिलक की बुराई किसी को नहीं करने देते थें वे कहते थे कि "तिलक में कमजोरियां हो सकती है। मुझे स्वयं बहुत सी बातों को लेकर उनसे निबटना है। लेकिन तुम कौन हो? तुम उनके पासंग भी नहीं हो। वह एक महान व्यक्ति है, उनकी स्वाभाविक प्रतिभा और सामर्थ्य अब्बल दर्जे की है। उन्होंने देश की सेवा के लिए ही अपने उन गुणों को और अधिक निखारा है। मैं भले ही उनके तरीकों से सहमत न होऊं, लेकिन मुझे उनकी नीयत पर कभी कोई सन्देह नहीं होता। मेरा विश्वास करो, उनके बराबर किसी ने भी देश के लिए अपना धन आर्पित नहीं किया है, उनके बराबर सरकार के शक्तिशाली विरोध का सामना किसी ने भी नहीं किया और उनके बराबर हिम्मत तथा धैर्य का परिचय भी किसी ने नहीं दिया है। अपने संघर्षों के दौरान कई बार उन्होंने अपना सब कुछ खो दिया और फिर अपने अदम्य पुरूषार्थ से अपनी स्थिति ज्यों की त्यों कर ली। और हर बार अपनी अदम्य इच्छा शक्ति से उसे फिर से इकट्ठा कर लिया।"[1]

19 फरवरी 1915 को जब गोखले की मृत्यु हुयी तो तिलक ने बड़ा गहरा आघात सहा, तथा अपने उद्गार केसरी में प्रकट करते हुए लिखा था, "लोग उनके नानाविध गुणों- जैसे प्रखर बुद्धि, कठोर अध्यवसाय और नम्रता सरलता के लिए उनकी प्रशंसा करते हैं। मेरी राय में तो ये उनके बाहरी गुण है, जिनके बारे में मतभेद भी हो सकता है। लेकिन उस आभ्यंतरिक निर्झर के बारे में कोई मतभेद नहीं हो सकता, जिससे इन बाहरी गुणों के विकास में मदद मिली। उनका मुख्य जीवन प्रवाह देश के लिए उनका सर्वस्व समपर्ण ही था। जो लोग जीवन के सुखों का उपभोग कर लेने

6, 1969-पृ० 221.

1. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1969, पृ० 221.

और काफी धन दौलत इकट्ठा कर लेने के बाद सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में पदार्पण करते है, उन्हें कोई भी ज्यादा महत्व नहीं देता, लेकिन जब किसी का ऐसे आदमी से परिचय होता है, जिसने किसी महान उद्देश्य को सामने रखकर अपने जीवन के प्रारम्भ में ही दुनिया के प्रलोभनो से मुंह मोड़ लिया हो और आपत्काल में भी अपने निश्चय पर अडिग रहा हो, तब उसके लिए हमारे हृदय में आदर की भावना जंग जाती है। वास्तव में वह व्यक्ति परम भाग्यवान होता है और गोखले ऐसे ही व्यक्ति थे।''[1]

राधाकृष्णन ने तिलक के बारे में विचार व्यक्त करते हुए कहा कि ''जिस राजनीतिक क्षेत्र में तिलक ने अपने जीवन का अधिकांश भाग लगा दिया था, वस्तुत: उसके लिए वह नहीं बने थे। वह जन्मजात विद्वान थे और सिर्फ जरूरतवश ही राजनीतिज्ञ थे।''[2]

भारतीय राजनीति की इन प्रमुख दो विचारधारायें जो तिलक और गोखले का अपना अपना मार्ग था, समान लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अपनाया गया था। तिलक और गेखले एक दूसरे के पूरक थे **महात्मा गंधी** के शब्दों में ही समझा जा सकता है। तिलक जहाँ हिमालय के सदृश्य उच्च तथा अगम्य थे वहाँ गोखले गंगा की निर्मल धारा के सदृश्य थे जिसमें आसानी से गोता लगाया जा सकता था। **डॉ० पट्टाभि सीता रमैया** ने इन दोनों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यधिक स्पष्ट और सुन्दर भाषा में प्रस्तुत किया है। वे लिखते है : ''गोखले नरम थे तथा तिलक गरम, गोखले चाहते थे कि तत्कालीन विधान में सुधार कर दिाय जाय परन्तु तिलक सम्पूर्ण विधान का ही फिर से ही निर्माण करना चाहते थे। गोखले को नौकरशाही के साथ कार्य करना पड़ता था तो तिलक की नौकरशाही से भिड़न्त रहती थी, गोखले कहते थे जहां सम्भव हो सहयोग करो जहाँ आवश्यक हो विरोध करो,

---

1. एन० जी० जोग : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली, 1969 , पृ० 220
2. एन० जी० जोग : वही, पृ० 212.

लेकिन तिलक का झुकाव अडंगा नीति की ओर था, गोखले जहाँ शासन तथा उसके सुधार की ओर मुख्य ध्यान देते थे वहाँ तिलक राष्ट्र तथा उसके निर्माण को सबसे मुख्य समझते थे। गोखले का आदर्श था प्रेम तथा सेवा, पर तिलक का आदर्श था सेवा तथा कष्ट सहना। गोखले विदेशियों के जीतने के उपाय करते थें तिलक उन्हें हराना चाहते थे। गोखले दूसरों की सहायता पर विश्वास करते थे तिलक स्वालम्बन पर। गोखले उच्च वर्ग तथा बुद्धिवादियों की ओर देखते थे परन्तु तिलक सर्वसाधारण तथा करोड़ों की ओर, गेखले का अखाड़ा था कौंसिल भवन तो तिलक की अदालत थी, गांव की चौपाल, गोखले अंग्रेजी में लिखते थे तिलक मराठी में, गोखले का उद्देश्य था स्वशासन जिसे योग्य लोग अपने को अंग्रेजों की कसौटी पर कसकर प्राप्त करे। परन्तु तिलक का उद्देश्य था स्वराज्य जो कि प्रत्येक भारतवासी का जन्म सिद्ध अधिकार है। तथा जिसे वह विदेशों की सहायता या वादा की परवाह न करते हुए प्राप्त करना चाहते थे। गोखले अपने समय के साथ उपयुक्त थे तिलक अपने समय से काफी आगे।''[1]

इस प्रकार हम कह सकते है कि पट्टाभि सीता रमैय्या के उपयुक्त विचार अपने आप में ही तिलक एवं गोखले के व्यक्तित्व के विषय में पूर्ण परिचय है। इन विचारों की एक-एक पंक्ति तिलक एवं गोखले के व्यक्तित्व, कृतित्व, सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन का दर्पण है।

---

1. पट्टाभि सीता रमैय्या : हिस्ट्री ऑफ नेशनल कांग्रेस भाग-1, (1885-1835), पद्मा पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई, 1935, पृ० 166.

निष्कर्ष एवं प्रासंगिकता

बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक एवं सामाजिक सामाजिक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन विषय पर शोध के अंतिम पड़ाव में, हम इस समस्या से ग्रसित हो गये है, कि इन दोनों महान विभूतियों के विषय में, इनके कार्यों, विचारों और सिद्धान्तों के सन्दर्भ में क्या निष्कर्ष दे, क्योंकि महान विभूतियों के सन्दर्भ में निष्कर्ष देना बड़ा ही कठिनाई भरा कार्य होता है क्योंकि इनके विचारों की सजीवता सदा बनी रहती है, तथा हर युग एवं काल में इनके जीवन का दर्शन नये-नये रूप में प्रकट होते रहते है। ये गंगा की पवित्र धारा के समान सदा ही प्रवाहित होते रहते है तथा सारी गन्दगी को अपने साथ बहा कर पवित्र कर जाते है और नई प्रेरणादायक स्वच्छता देते जाते किन्तु हमें निष्कर्ष तो लिखना ही है ईश्वर ही हमें निष्कर्ष लिखने की प्रेरणा प्रदान करेगा। निष्कर्ष तक पहुँचने के पूर्व हमें एक दृष्टि इनके योगदानों पर डालनी होगी तथा आज के समय में इनके सिद्धान्तों की प्रासंगिकता को भी समझना होगा।

बाल गंगाधर तिलक का योगदान—तिलक का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने राजनीतिक को जो उस समय तक अमीर तबके के लोगों के मनबहलाव का साधन मात्र थी, जब उन्होंने इसे छोड़ दिया, तब वह जन साधारण की चीज बन गई। **1896 में ही तिलक ने लिखा था**—''शिक्षित वर्ग वालों की जो यह धारणा है कि वे आम जनता से भिन्न और अलग है, उससे ज्यादा बेवकूफी की बात कुछ और नहीं हो सकती। उन्हें यह समझना चाहिये कि वे समस्त भारतीय जनता के ही एक अंग है अत: जनता की मुक्ति पर ही उनकी मुक्ति निर्भर करती है।''

तिलक ने जनता को यह महसूस कराया कि अनुशासन, एकता और कठिन प्रयास के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। उन्होंने इस नारे को जन्म ही नहीं दिया था कि ''**स्वराज्य मेरा जन्म**

सिद्ध अधिकार है, जिसे मैं लेकर ही रहूँगा।'' प्रयुक्त इसमें निहित भावना को साकार करने के लिए जीवन पर्यन्त महान त्याग और संघर्ष भी किया था, जिस बीच देश की खातिर उन्हें सरकारी मुकदमों का मुकाबला करना पड़ा और जेल भी जाना पड़ा, दरअसल वही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने राष्ट्रीय हितों के लिए देश की जनता को जागृत करके सुसंगठित किया और उसे जानदार बनाया। वह एक विद्वान और विचारक थे—एक ऐसे दार्शनिक थे जिसकी वास्तविकता में पैठ थी। ''गीता रहस्य'' पुस्तक उनकी विद्धता का स्मारक सिद्ध हुयी। लेकिन उन्होंने केवल ''गीता'' की व्याख्या ही नहीं की बल्कि उसे अपने जीवन में उतारा भी। वह एक ऐसे स्थितप्रज्ञ थे, जिसे परम सन्तुलन प्राप्त था।

सामाजिक विज्ञानों और तत्व मीमांसा की समस्याओं के प्रति तिलक का दृष्टिकोण व्यापक और पूर्ण था। वे भारतीय राजनीतिक आन्दोलन और विचारों के मूल को देश की धार्मिक और ऐतिहासिक परम्पराओं में स्थापित करना चाहते थे। जहाँ नरमदल वाले नेता **बर्क, मिल, ग्लैडस्टोन, स्पेन्सर** और **मार्ले का उद्धरण** दिया करते थे, वहाँ तिलक महाभारत, 'रामदास कृत दास बोध'' और 'भर्तहरि'' के ''नीतिशतक'' का उद्धरण देते थे। उन्होंने हिन्दुओं के प्रिय देवता गणेश की सार्वजनिक पूजा चलाई। परन्तु इसका सामाजिक और सांस्कृतिक उद्देश्य भी था इस अवसर पर अस्पृश्य जातियां भी भाग लेती थी, इससे हिन्दू संगठन दृढ़ होता था, शिवाजी उत्सव के तत्वावधान में मराठा गौरव को पुर्नजीवन मिला क्योंकि शिवाजी को अन्याय अत्याचार और राजनीतिक शोषण के विरुद्ध युद्धकर्ता के स्थायी प्रतीक के रूप में समझा गया।

राजनीतिक दार्शनिक के रूप में लोकमान्य ने हमें राष्ट्रीयतावाद एक सिद्धान्त दिया है। उन्हें प्रभुता, न्याय, सम्पत्ति आदि राजनीतिक शास्त्रीय अवधारणाओं की व्याख्या करने का समय नहीं मिला, यद्यपि उन्होंने इसका उल्लेख किया है। राष्ट्रीयतावाद का सिद्धान्त पूर्वीय और पश्चिमी विचारकों की शिक्षाओं का समन्वय था। प्रजातन्त्र में उनकी दृढ़ निष्ठा थी और जनता पर उनके विशिष्ट प्रभाव का यही रहस्य था।

तिलक ने कांग्रेस में प्रविष्ट होकर उसके स्वरूप को ही बदल दिया और एक शान्त, विनम्र तथा याचक आन्दोलन को एक सशक्त और निर्भीक आन्दोलन में तब्दील कर दिया। ब्रिटिश चरित्र को उन्होंने ठीक से समझा, स्वराज्य प्राप्ति के लिए देशवासियों में संगठन की लहर व्याप्त की और तत्कालीन परिस्थितियों में एक महान सेनापति की भूमिका अदा की। लोकमान्य तिलक ने भारतीय जनता को '**अवज्ञा का दर्शन**'' प्रदान किया और इस दृष्टि से उन्हें भारतीय जागृति का अग्रदूत कहा जा सकता है स्वामी **श्रद्धानन्द जी के अनुसार**—''महाराज तिलक का राजनीतिक कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं में बहुत ऊँचा स्थान है। उन्होंने सबसे पहले राजनीतिक एकता के सिद्धान्त का प्रचार किया। मातृभूमि की सेवा के लिए और किस वीर पुरूष ने इतने कष्ट सहे हैं जितने इस महापुरूष ने क्या **मातृभूमि की सेवा करने वाले सैनिक इस बूढ़े सेनपति के आगे सिर नहीं झुकायेंगे।**''

एक कुशल एवं दूरदर्शी राजनेता के रूप में तिलक ने समयानुसार परिवर्तन एवं संवधर्न का मार्ग अपनाया। स्वराज्य के असहयोग से प्रतिक्रिया सहयोग पर आधारित किया।

निष्क्रिय प्रतिरोध को संवैधानिक आन्दोलन में परिवर्तित किया। स्वधर्म को धर्म निरपेक्षता एवं साम्प्रदायिक समन्वय को सहअस्तित्व में प्रस्तुत किया। स्वराज्य प्राप्ति की लालसा उन्हें जीवन पर्यन्त बनी रही। वे युग दृष्य थे। हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने वाले तिलक ने गांधी जैसे उत्तराधिकारियों को भी पहचान लिया था। गांधी जी उनके मानस पुत्र थे। गांधी जी ने गोखले को गुरू माना किन्तु जन सामान्य उनके क्रिया कलापों में तिलक का ही दर्शन करता रहा। लगानबन्दी, बहिष्कार, मद्यनिषेध, स्वदेशी असहयोग आदि समस्त कार्यक्रम प्रस्तुत कर तिलक ने भविष्य के राजनीतिक आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया। **श्री अरविन्द** ने उनके सम्बन्ध में ठीक ही कहा है, कि श्री तिलक का नाम राष्ट्र निर्माता के रूप में आधा दर्जन महानतम् राजनीतिक पुरुषों, स्मरणीय व्यक्तियों, भारतीय इतिहास के इस संकट मय काल में राष्ट्र के प्रतिनिधि व्यक्तियों में होने के नाते सदा अमर रहेगा और इसे लोग तब तक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करेंगे, जब तक देश में अपने

भूतकाल पर अभिमान और भविष्य के लिए आशा बनी रहेगी।" तिलक ने स्वतन्त्रता की स्वर्णिम किरण को भले ही अपने जीवन काल में न देखा हो किन्तु स्वतन्त्रता के लक्ष्य को बहुत सामीप ला दिया था, नहीं तो परतन्त्रता की बेड़ियों से जाने कब मुक्ति मिलती।

गोपाल कृष्ण गोखले का योगदान—गोखले का जीवन सरलता, सहृदयता, एवं सार्वजनिक सेवा की तत्परता से ओत-प्रोत था। उनके द्वारा संवैधानिक आन्दोलन का जिस प्रकार से संचालन एवं संवर्धन हुआ वह निरन्तर चलता रहा और भारत की स्वाधीनता के बाद भी उनकी सुधारों की प्रवृत्ति की स्पष्ट छाप भारत के शासकीय कार्यों पर बनी रही। गोखले केवल उदारवादी ही नहीं थे उनके जीवन का एक पक्ष भी था, और वह था उनके द्वारा गरम पंथियों को संरक्षण प्रदान करने का। वह इस बात की पुष्टि करता है कि वे देशों के स्वाधीनता संग्राम में सेननियों के प्रति अत्यधिक निष्ठावान एवं सहायक रहे।

गोखले ने भारतीय युवकों को पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करने के लिए जो प्रेरणा प्रदान की उसी शिक्षा की प्राप्ति से नवयुवकों को अपने राजनीतिक अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान हुआ। गोखले ने शिक्षा को भी अपने प्रमुख अस्त्र के रूप में चुना। उन्होंने स्त्रीशिक्षा और नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा पर भी जोर दिया। आज वही सब बाते विश्व के सभी देशों में महत्वपूर्ण साबित हो रही है।

गोखले ने अपनी मृत्यु से पूर्व लार्ड विलिंगटन के आग्रह पर भावी भारत की व्यवस्था के सम्बन्ध में एक योजना तैयार की थी जो प्रान्तीय स्वासता के नाम पर उनका राजनीतिक वसीयतनामा' ही है। यह **वसीयतनामा** गोखले के चिन्तन का एक उज्जवल पक्ष है, उनकी बौद्धिक गरिमा और राजनीतिक प्रतिभा का सुन्दर नमूना है।

गोखले के आर्थिक विचार भी राजनीतिक विचारों के समान महत्वपूर्ण और सुलझे हुये थे। तथ्य और ऑकड़ों की क्रम योजना से युक्त उनके भाषण बड़े मूल्यवान और प्रभावपूर्ण होते थे—गोखले ने

भारत की गरीबी का काफी चिन्तन किया तथा इसका कारण यूरोपीय सेना पर होने वाला व्यय माना, इसके अतिरिक्त सूती वस्त्रों में उत्पादन शुल्क हटाया जाय, नमक शुल्क कम किया जाय। गोखले ने कृषि के साथ ही साथ देश के औद्योगिक विकास पर बल दिया और कहा कि इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए बड़ी घातक होगी। गोखले ने आयकर को बढ़ाने वाली सीमा का समर्थन किया। गोखले ने संसद में तार्किक तरीके से अपनी बात रखकर भारतीय जनता की आवाज को बुलन्द किया।

भारतीय राजनीति को गोखले की सबसे बड़ी देन राजनीति का आध्यात्मीकरण है। उन्होंने सदैव इस बात पर जोर दिया कि श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधनों को ही अपनाया जाना चाहिए। **चिन्तामणि के अनुसार**—''गोखले बौद्धिक रूप से इतने ईमानदार थे कि वे पहले अपने आप से अच्छी तरह जिरह किये बिना कभी कोई राय प्रकट नहीं करते थे।'' गोखले ने देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर **भारत सेवक समाज की स्थापना की,** इस संस्था के संविधान की प्रस्तावना में गोखले ने लिखा ''अब हमारे काफी देशवासियों को इस काम में धार्मिक भावना के साथ अपने आपकों खपाने के लिए आगे बढ़ना चाहिये। सार्वजनिक जीवन को आध्यात्मिक रूप दिया जाना चाहिए। दिल में देश का प्रेम इस तरह भर जाना चाहिए कि उसके सामने और सब बाते महत्वहीन मालूम हो।'' गोखले उत्कृष्ट देश भक्त थे और उनके सम्बन्ध में **मोतीलाल** द्वारा दिया गया यह बयान प्रासांगिक है कि **''गोखले स्वशासन के एक महान देवदूत थे जिन्होंने ब्रिटिश नौकरशाही के अत्याचारों का कड़ा विरोध किया।''**

यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि गोखले ने उदारवादी आन्दोलन की जो नींव रखी उसी नींव पर उग्रवादी आन्दोलन पनप सका। दोनों ही आन्दोलन एक दूसरे के पूरक थे। एक के बिना दूसरे की पहचान संदिग्ध थी।

गोखले ने अपना सम्पूर्ण जीवन देश में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त करने में लगा दिया। उनका मानना था यदि समाज सुधरेगा, तो देश सुधरेगा। वे सामाजिक कार्यों के माध्यम से राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के पक्षधर थे क्योंकि यदि भ्रष्ट समाज को राजनैतिक सत्ता प्राप्त भी हो जाए तो इस विरासत को संभाल नहीं पायेंगें तथा ऐसी स्थिति में देश को फिर से परतन्त्र होने का खतरा सिर पर मंडराता रहेगा।

तिलक और गोखले के विचारों की वर्तमान समय में प्रासांगिकता

तिलक और गोखले के विचार आज के वर्तमान युग में भी उतने ही महत्वपूर्ण है जितने पहले थे। वे आज भी भारतीय राजनीति को ऊर्जा प्रदान करते रहते है।

तिलक का यह विचार की राजनीतिक सुधार पहले होने चाहिए सामाजिक सुधार अपने आप ही हो जायेंगे, इस तथ्य की प्रासांगिकता को आज मूर्त रूप में देखा जा सकता है। आज जब हम सामाजिक न्याय के युग में चल रहे हैं तो हम देखते है कि 'दलित चेतना और दलित राजनीति' की भी यही माँग है। **बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर** मानते थे कि **''राजनीतिक सत्ता वह चाबी है जिससे कोई भी ताला खोला जा सकता है।'** अत: दलितों को सत्ता दिलाने के उद्देश्य से उन्होंने स्वतन्त्र लेवर पार्टी का गठन किया। आज अम्बेडकर के पद चिन्हों में चलने वाली बहुजन समाज पार्टी राजनैतिक चेतना को विकसित करने में राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर ली है तथा राजनैतिक चेतना और गर्व से मुक्त इस पार्टी के समर्थक अपना समाज सुधार स्वयं कर रहे हैं।

राजनीतिक सबलता को प्राप्त करने के लिए तिलक के इस प्रयास की प्रासांगिकता को सिद्ध करने के लिए, भारत की यात्रा में अभी-अभी आयी हुई भारतीय मूल की 'यूरोपीय सांसद **नीना गिल' के ये** शब्द महत्वपूर्ण है कि ''हर चीज को पॉलिटिक्स प्रभावित करती हैं।''

तिलक ने अपने धर्म और दर्शन की श्रेष्ठता को सिद्ध किया। आज इस बात का प्रमाण है कि अनेको विकसित देशों के लोग आध्यात्मिक शान्ति के लिए भारत की ओर देखते है।

तिलक के दहेज प्रथा के विरोध को स्वतन्त्र भारत सरकार ने 1961 में दहेज विरोधी कानून बनाके इसकी प्रासंगिकता को स्वीकार किया।

मद्यनिषेध को नीति निर्देशक त्रत्वों में शामिल करके तिलक की सोच को स्वतन्त्र भारत सरकार ने गौरव प्रदान किया।

तिलक सदा ही एक भाषा एक राष्ट्र की बात की जो भाषा हिन्दी ही थी यही सम्पूर्ण देश को जोड़ सकती थी। उनकी यह बात कितनी महत्वपूर्ण थी कि भारतीय संविधान के निर्माताओं ने हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया तथा देवनागिरी को एक लिपि के रूप में ।

गणेश उत्सव और शिवाजी उत्सव जैसे राजनैतिक चेतना से युक्त उत्सवों का आज वो तो महत्व और भी बढ़ गया है क्योंकि आज भारत चारों ओर से अपने शत्रुओं से घिरा है। विदेशी ताकतें देश को हानि पहुँचाने में सतत् प्रयत्नशील है भारत एक छाया युद्ध से जुझ रहा है तो ऐसे समाज में वीरता, गौरव और एकता की परम आवश्यकता है।

तिलक द्वारा दिये गये कुशल और सशक्त नेतृत्व की आज तो और भी आवश्यकता बढ़ गयी है। क्योंकि आज की विदेशनीति में अपने देश को सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने के लिए एक सशक्त नेतृत्व की परम आवश्यकता है।

तिलक के स्वदेशी के विचारों की प्रासांगिकता आज और भी बढ़ गयी है क्योंकि भूमंडलीकरण और उदारीकरण के चलते यदि स्वदेशी की भावना सुदृढ़ नहीं होगी तो हम लोग आर्थिक रूप से टूट जायेंगें।

जहाँ उपर्युक्त क्षेत्रों में तिलक के विचार प्रासंगिक है वहाँ गोखले के विचार भी आज के समय में भी प्रासांगिकता के साथ अपने महत्व को सिद्ध करते है।

गोखले ने नि:शुल्क एवं प्राथमिक शिक्षा की जो वकालत की थी वो आज भी प्रासांगिक है आज आजादी की अर्द्ध सदी बीतने के बाद भी सरकार ने इस तथ्य को स्वीकारा तता 'तिरानबेवा (93वाँ)' संवैधानिक संशोधन के माध्यम से 6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए नि:शुल्क अनिवार्य शिक्षा के लिए संविधान के 'अनुच्छेद '21' में एक नया उपबन्ध '21 A' जोड़ा इसके तहत 6 से 14 वर्ष आयु वर्ग के सभी बच्चों को नि:शुल्क व अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने का दायित्व सरकार का होगा। इसके अतिरिक्त 'अनुच्छेद 51 A' में एक नया उपबन्ध जोड़ा जायेगा जिसके तहत प्रत्येक माता-पिता व अभिभावक का यह कर्त्तव्य होगा कि वे 6 से 14 वर्ष के बच्चों को शिक्षा का अवसर उपलब्ध करायेंगे। इसके साथ ही साथ संविधान के 'अनुच्छेद 45' के जरिये 6 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को स्वास्थ्य व शिक्षा उपलब्ध कराने में सरकार सहयोग करेगी।

पाश्चात्यशिक्षा जो अंग्रेजी माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती थी उसी की बदौलत आज हमारे देश की प्रतिभाएं विश्व स्तरीय सेवाएं उपलब्ध करा रहीं है 'सूचना प्रौद्योगिकी' के क्षेत्र में अंग्रेजी शिक्षा के चलते ही हमारे देश में युवाओं की मांग अन्य देशों की तुलना में जो अंग्रेजी का ज्ञान कम रखते है, आज हमारे देश के तुलना में सर्वाधिक है।

उच्च वैज्ञानिक शिक्षा, चिकित्सीय शिक्षा अभियांत्रिकी एवं तकनीकि शिक्षा के माध्यम से भारतीय युवक विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में सेवा प्रदान करके देश के गौरव को तो बढ़ा ही रहे है तथा देश के लिए विदेशी मुद्रा भी अर्जित कर रहे हैं। जिसका हमें अत्यधिक आवश्यकता है।

उदारवादी दृष्टिकोण के चलते ही आज जब विश्व व्यापार एवं भूमण्डलीकरण का युग है हम विदेशियों को अपने यहाँ व्यापार करने के लिए आकर्षित कर पा रहे है।

अस्पृश्यता के अन्त एवं दलित चेतना के विकास जो कि गोखले की परम इच्छा थी, के चलते ही देश के इस बहुजन समाज का विकास हुआ है जिससे देश का एक प्रमुख वर्ग देश के विकास की मुख्य धारा में शामिल हो गया है।

स्त्री शिक्षा के चलते आज हमारे यहाँ की नारियां सभी क्षेत्रों में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर विकास पथ पर अग्रसर है।

गोखले ने एक जो सबसे महत्वपूर्ण योगदान, संसदीय व्यवस्था में तार्किक तरीके से अपनी बात रखने का जो तरीका दिया, इस बात की प्रासांगिकता और अधिक बढ़ गयी है जब हम यह देखते है कि आजकल संसद एवं विधान मण्डलों में अपनी बात रखते समय सदस्यगण उत्तेजित हो जाते है तथा उत्तेजना में कुछ अनुचित कह जाते है तो ऐसे समय में गोखले के मार्ग का अनुसरण करते हुए पूर्ण तैयारी के साथ सभ्य ढंग से तर्क पूर्ण अपनी बात रखें तथा दूसरे की बात को सुने।

निष्कर्षतः हम कह सकतें हैं कि देश की इन महान् विभूतियों की कार्यों की,' इनके ताकत की उर्डा के अहसास से देश आज भी शक्ति प्राप्त कर रहा है। लेकिन हम यहाँ यह भी कहना चाहेंगे कि इस बात पर हमें घोर आपत्ति है कि तिलक को उग्रवादी नेता की श्रेणी में स्थान दिया जाय। क्योंकि आज के परिवेक्ष्य में यह एक अपमान सूचक शब्द बन गया है (आतंकवादियों से सम्बन्धित) फिर यह नाम तो उनके विरोधियों, और साम्राज्यवादी ताकतों ने दिया था उग्रवादी का अर्थ यह है कि जो देश का शत्रु हो, हिंसा पर विश्वास रखता हो देश की अखण्डता के लिए खतरा हो, हथियारों के माध्यम से अपनी बात पूरी कराना चाहता हो, तिलक तो ठीक इसके विपरीत थे वो तो ऐसे महान सपूत थे जिन्होंने देश के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया. हाँ उनकी विचारधारा को गरम विचारधारा कहा जा सकता है, वो भी तुलनात्मक दृष्टि से।

तिलक और गोखले ने जिस प्रकार का कुशल नेतृत्व प्रदान किया वह आज भी प्रासांगिक है तथा देश को हरदम ऐसे ही नेतृत्व की आवश्यकता रहती है। आज हमें तिलक और गोखले के समन्वित रूप के नेतृत्व की आवश्यकता है जो राष्ट्र को नयी दिशा प्रदान कर सके। जिससे भारत विश्व का आध्यात्मिक गुरू बनकर विश्व को नेतृत्व प्रदान करे। तथा शान्ति का संदेश विश्व भर में फैला सके।

तिलक और गोखले एक दूसरे के पूरक थे दोनों ही एक दूसरे को कार्य करने के लिए भूमि तैयार की दोनों की पहचान एक दूसरे से ही थी इस परिपेक्ष्य में **डॉ० पट्टाभि सीता रमैया** का यह विचार प्रासांगिक ही होगा कि जिस समय भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने (गोखले) पदापर्ण किया, उस समय वे अकेले थे। उन्होंने जो नीतियां अपनायी, उनके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। किसी भी आधुनिक इमारत की नींव मं 6 फुट नीचे जो ईंट, चूना और पत्थर गढ़े है, क्या उन पर कोई दोष लगाया जा सकता है? क्योंकि वही तो आधार है जिसके ऊपर सारी इमारत खड़ी हो सकी है। सर्वप्रथम औपनिवेशिक स्वशासन, फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होमरूल, उसके बाद स्वराज्य, तथा सबके शीर्ष पर पूर्ण स्वाधीनता की मंजिले एक के बाद एक ही बन सकी है।''

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भट्टाचार्य, संव्याची : 'ब्रिटिश राज के वित्तीय आधार' अनुवादक श्रीकान्त मिश्र, प्रकाशक—द मैकमिलन कं० ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम हिन्दी संस्करण, 1976।

2. दत्त, रजनी पाम : आज का भारत, अनुवादक : आनन्द स्वरूप वर्मा, प्रकाशक—द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम हिन्दी संस्करण, 1977।

3. दत्त, रमेश चन्द्र : ब्रिटिश भारत का आर्थिक इतिहास अनुवादक केशवदेव सहारिया, प्रकाशक ज्ञानमण्डल कार्यालय, काशी, 1922।

4. दामोदरन, के० : भारतीय चिन्तन परम्परा, अनुवाद—जी० श्रीधरन, प्रकाशक—पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रा० लि० रानी झांसी रोड, नई दिल्ली, 55।

5. देसाई, ए० आर० : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि अनुवादक प्रयागदत्त त्रिपाठी, प्रकाशक—द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम हिन्दी संस्करण 1976।

6. देवगिरिकर, त्रयम्बंक रघुनाथ : गोपाल कृष्ण गोखले : आधुनिक भारत के निर्माता, सीरीज प्रकाशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली—1 द्वितीय संस्करण 1980।

7. गांधी, एम०, के० : गोखले मेरे राजनीनिक गुरू, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद—14, 1959।

8. गोपाल, आर० : विक्टोरिया से नेहरू तक, बनारस, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, 1954।

9. ग्रोवर बी० गल० और यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास एस० चन्द्र, कम्पनी लिमिटेड, रामनगर नई दिल्ली 2002।

10. गाकुल चन्द्र : तपस्वी तिलक

11. जैन० एम० पी० : आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, भाग-2 प्रकाशक-ओरियण्टल, लॉग्मैन, लिमिटेड आसिफ अली रोड, नई दिल्ली।

12. जैन० एम० एस० : आधुनिक भारत का इतिहास।

13. जोग एन० जी० : आधुनिक भारत के निर्माता, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, प्रकाशन विभाग, सूचना प्रसारण और संचार मन्त्रालय, भारत सरकार 1969।

14. काणे, पी० वी० : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1 अनुवादक अर्जुन चौबे काश्यप, प्रकाशक—हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र० शासन, लखनऊ।

15. कमल के० एल० : भारतीय राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1998।

16. काश्यप, सुभाप : भारत का संवैधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष

17. लूनिया, वी० एन० : प्राचीन भारतीय संस्कृति

18. नागर, पुरूषोत्तम : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर प्रथम संस्करण, 1980।

19. नखड़े, वी० एस० : आधुनिक भारतीय चिन्तन, अनुवादक नेमिचन्द जैन, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली-6, प्रथम हिन्दी संस्करण 1966।

20. पाल, विपिन चन्द्र : भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली, प्रथम संस्करण 1990।

21. पाल, विपिन चन्द्र : भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्‌भव तथा विकास अनुवादक डी० आर० चौधरी, प्रकाशक—द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम हिन्दी संस्करण 1977।

22. पर्वते एवं भंडारी : तिलक दर्शन

23. प्रसाद, ईश्वरी : अर्वाचीन भारत का इतिहास इण्डियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, 1958।

24. पवर्ते, टी० वी० : गोपाल कृष्ण गोखले, प्रकाशक-नवीजन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1959।

25. पाठक, मातासेवक : लोकमान्य तिलक का जीवन।

26. राबर्टस, पी० , ई० : ब्रिटिश कालीन भारत का इतिहास अनुवादक राम कृष्ण शर्मा, कवल प्रकाशक एस० चन्द एण्ड कम्पनी प्रा० लि० रामनगर, नई दिल्ली तृतीय संस्करण, 1974।

27. सुन्दर लाल : भारत में अंग्रेजी राज्य 'द्वितीय खण्ड, प्रकाशक प्रकाशन विभाग, सूचना एवम् प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, पुराना सचिवालय, दिल्ली-6 1961।

28. सीता रमैया, डॉ० बी० पट्टाभि : कांग्रेस का इतिहास, सन 1885 से 1935 तक अनुवादक हरिभाऊ उपाध्याया, प्रकाशक सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

29. सिंह अयोध्या : भारत का मुक्ति संग्राम, प्रकाशक—द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लि०, नई दिल्ली।

30. सेबाइन, जॉज० एच० : राजनीति दर्शन का इतिहास, अनुवादक विश्व प्रकाश गुप्त, प्रकाशक—एस० चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 1970।

31. सिंह, जी० एन० : भारत का वैधानिक तथा राष्ट्रीय विकास।

32.. शास्त्री, अलगूराय : लाला लाजपत राय, जीवनी, लोक सेवक मण्डल दिल्ली, 1957।

33. समुन, रामनाथ : हमारे राष्ट्रनिर्माता

34. सत्येन्द्र त्रिपाठी और कृष्ण दत्त : भारतीय राष्ट्रवाद स्वरूप और विकास।

35. शर्मा, नन्दकुमार देव : लोकमान्य तिलक का जीवन।

36. शर्मा, डॉ० प्रभुदत्त : आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, बेंथम से अब तक, प्रकाशक कालेज बुक डिपो, जयपुर।

37. शर्मा, ईश्वरी प्रसाद : लोकमान्य तिलक का जीवन।

38. ताराचन्द : 'भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास' रूपान्तरकार मन्मथनाथ गुप्त, प्रकाशक—प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय भारत सरकार, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली।

39. तिलक, बालगंगाधर : श्री भद्मगवद्गीता रहस्य अर्थात कर्मयोगशास्त्र, तिलक ब्रदर्स पूना 1935।

40. तिवारी, गंगा दत्त : प्रमुख राजनीतिक चिन्तक, मीनाक्षी प्रकाशन

41. उपाध्याय, डॉ० राम जी : भारतीय सामाजिक क्रान्ति।

42. वर्मा, शान्ति प्रसाद : स्वतन्त्रता की चुनौती, प्रकाशक-गोकुल दास धूत, 1948।

43. वर्मा डी० एन० : आधुनिक भारत।

44. वर्मा, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन : अनुवादक डॉ० सत्यनारायण दुबे, प्रकाशक मैसर्स लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक, हास्पिटल रोड, आगरा, 3 1971।

: लोकमान्य तिलक जीवन और दर्शन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक आगरा-2, प्रथम संस्करण 1982।

: लोक मान्य तिलक का गीता रहस्य "भारतीय दर्शन", आगरा लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 1967।

: लोकमान्य तिलक विश्व राजनीति, पटना, ज्ञानपीठ प्रेस, 1960।

45. विधावाचस्पति, इन्द्र : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास।

46. वेदालंकार, हरिदत्त : हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास।

47. वार्ष्णेय लक्ष्मी सागर : आधुनिक हिन्दी साहित्य।

BIBLIOGRAPHY IN ENGLISH

1. Abhyankar, G. R. : Gopal Krishna Gokhale his life, poona 1915.

2. Aggerwal, R. C. : Constitution, history of India and National movement, New Delhi, S. Chand and Co. 1978.

3. Alteker, A. S. : Posotion of women in Hindu civilization Varanasi 1956.

4. Appadorai, A. : Indian Political thinking through the ages, khanna Pub. 1992.

5. Athalye, D.V. : The life of Lokamanya Tilak, Gagat hitechhu, press, Poona, 1929.

6. Bahadur, K, P. : A History of freedom movement in India, N.D. ESS. ESS. Publications. C. 1986.

7. Bapat, S.V. : Reminiscences and Recollection of Lokamanya Tilak, Poona, 1924-1928.

8. Bhat, V.G. : Lokamanya Tilak, his life mind, politics and philosophy, Poona 1956.

9. Bolitho, Hector : Jinnha : The creator of pakistan, John marrly, London-1954.

10. Bose . N. S. : The Indian Awakenig and bengal pubs, ferma, K.L. Mukhopadhyay. Calcutta-12, 1960.

: The Indian National Movemant and out line, pubs ferma K. L. Mukhopadhyay, Calcutt-1965.

11. Brown. : India in Fanaticine its origen progress and suppression, London-1857.

12. Buch, M.A. : Rise and growth of mentetant Nationalism good companions, Baroda. 1940.

: Rise and growth of Indian Liberlism from Ram Mohan Rai to Gokhale, Baroda, 1938.

13. Chintamani. C. y. : Indian Politics since the mutiny, Alld. Kitabistan-1947.

: Indian social Relorm, Madras, 1901.

14. Chandra, Bipin : Nationalism and Colonocatism in modern India, New Delhi, oriant longman 1979.

15. Chand, Tara : History of the feedom movement in India, New Delhi, Publication Division. 1972.

16. Chirol, V. : Indian unrest Macmelan and Co. Ltd. Saint Martin's street london 1910.

17. Das, D. : India from curzon to Nehru & after, Alld, Rupa Paperback C. 1969.

18. DE Barun, Bipin Chandra Amales Tripathi : Freedom Struggle, National Book, trust India New Delhi, 1972.

19. Deol, D. : Liberalism and Marxism on Introduction to the study of Contemporary politics, starling pubs. Ltd, New Delhi

20. Desai, A. R. : Social background of Indian Nationalism, Bombay, Popular Prakashan, C-1981.

21. Devadhar, G.K. : The Servant of India society, arya Bhushan Press, Poona, 1914.

22. Dubai, J. a. : Hindu manners, customs and ceremonies, H.K, beaukump, oxford University Press, London. 1968.

23. Dutt, R.P. : India Today, Calutta, Manisha Granthalaye C-1979.

24. Farkhuhar : Modern Religions movement in india, Munshi Monahar Lal, oriental Publishers and Bookseller's New, Delhi-1965.

25. Gandhi, M.K. : Gokhale : My political guru, Navjeevan publishing house, Ahmedabad-1955.

26. Ganesh & Co. (Publishar) : Life of lokamanya Tilak.

27. Ghose, A. : Bankim-Tilak-Dayananda Calcutta-1940.

28. Ghose, P. C. : The Development of the Indian National Congress, 1892-1909 Calcutta 1960.

29. Gokhale, G.K. : Speeches and writing of G.K. Gokhale, Poona Duccan sabha, 1962.

30. Gopal, R. : Lokamanya Tilak, A Biography Asia publishing house, Bombay, 1965.

31. Gupta, S.N. : History of National Movemats, Agra, Yogendra Kumar Pubs. C. 1989.

32. Heim sath charles : Indian Nationalism and Hindu social Reform, Printes University, Press. 1964.

33. Hoyland, J.S. : Gopal Krishna Gokhale, Y.M.C.A. Publishing house, Calcutta, 1933.

: Life and speeches of Gokhale.

34. Hunter w.W. : A History of British India K. C.S. I. Delhi, Indian Reprints publishing-1972.

35. Inamdar, N.R. : Political thought and leadership of Tilak, N.D. Comept Publishing, Co. C-1983.

36. Jagirdar, P. J. : Mahadeo Gouind Rande N.D. publications Divisions C-1981.

37. Joll, D.S. : Reason and Revalion, Prantis Hall, Newyork. 1963.

38. Kale, V.G. : Gokhale and Economic Reforms, poona 1916.

39. Kanetkar, M.J. : Tilak and Gandhi, A comparative Characters ketch Nagpur, 1935.

40. Karmarkar, D.P. : Bal Gangadhar Tilak, Astudy, popular book depo, Bombay. 1956.

41. Karunakaram, K.P. : Religion and political awakening in India meenakshi pups. Meerut. 1969.

42. Kunjuru H.N. : Gopal Krishna Gokhale the man and his mission.

43. Kelkar, N.C. : Life and times of Lokamanya Tilak, Madras, 1928.

32. Heim sath charles : Indian Nationalism and Hindu social Reform, Printes University, Press. 1964.

33. Hoyland, J.S. : Gopal Krishna Gokhale, Y.M.C.A. Publishing house, Calcutta, 1933.

: Life and speeches of Gokhale.

34. Hunter w.W. : A History of British India K. C.S. I. Delhi, Indian Reprints publishing-1972.

35. Inamdar, N.R. : Political thought and leadership of Tilak, N.D. Comept Publishing, Co. C-1983.

36. Jagirdar, P. J. : Mahadeo Gouind Rande N.D. publications Divisions C-1981.

37. Joll, D.S. : Reason and Revalion, Prantis Hall, Newyork. 1963.

38. Kale, V.G. : Gokhale and Economic Reforms, poona 1916.

39. Kanetkar, M.J. : Tilak and Gandhi, A comparative Characters ketch Nagpur, 1935.

40. Karmarkar, D.P. : Bal Gangadhar Tilak, Astudy, popular book depo, Bombay, 1956.

41. Karunakaram, K.P. : Religion and political awakening in India meenakshi pups. Meerut. 1969.

42. Kunjuru H.N. : Gopal Krishna Gokhale the man and his mission.

43. Kelkar, N.C. : Life and times of Lokamanya Tilak, Madras, 1928.

44. Kulkarni, A.V. : Lok, Tilak's last eight years Bombay, 1909.

45. Karandikar, S.L. : Lokamanya Bal Gangadhar Tilak, the Hercules and promethevs of Modern India, poona 1957.

46. Lovett, V. : A History of the Indian Nationalist movement, Delhi, vishal pubs, 1972.

47. Majumdar, R.C. : History of the feedom movement in India, Cal, Firma K.L. Mukhopadhyay, 1971.

: Glimpses of bengal in the nineteenth century, firma K.L.Mukhopadhyay. 1960.

48. Mukherjee, G.K. : History of Indian National Congress, 1832-1947. Meenakshi Publication, begum bridge, Meerut.

49. Mathur D.V. : Gokhale a political biography.

50. Munshi, K.M. : Bhagevat gita and Modern life, Vidhya Bhawan Bombay. 1964.

51. Nanda, B.R. : Studies in modern India History, Bombay, Orient Longman, 1962.

: Gokhale the Indian Moderates and the British Raj, Oxford, University, pr. C. 1979.

Nana, B.R. : Gokhale, Gandhi and the Nehru's Studies in Indian Nationalism, New York, S.T. Martins press 1974.

52. NaiK, V.N. : Gopal Krishna Gokhale, Bombay. 1919.

53. Narayan, V.A. : Social History of modern India Meenakshi Pups, begum bridge, Meerut.

54. Nao Raji, Dada Bhai : Poverty and unbritish Rule in India, Publication division, ministery of Information and broadcasting, New Delhi, 1962.

55. Natrajan, S. : A Century of social reform in India, Asia Publishing house, Bombay, 1962.

56. Nehru, J.L. : Twords freedom, the John dey Co. New york-1942.

57. Numboodiripad, E.M.S. : A History of Indian feedom struggle, Trivendrum 1986.

58. Parashis, S.R. : Hon. Gopal krishna Gokhale, his life, poona 1933

59. Pradhan, G.P. and A.K. Bhagwat : Lokamanya Tilak, A Biography, Jaiko, Publishing house, Bombay, 1959.

60. Paranjpe R.P. : Gopal Krishna Gokhale, Arya Bhushan press, poona, 1915.

61. Parikh, G.D. : Bharatiya Rasht ravadache shilpakar : Bal Gangadhar Tilak, Mouj prakashan, Bombay, 1969.

62. Radha Krishnan : The Hindu View.

63. Ramaswami, C.P. : G.K. Gokhale, The man and his mission, Bombay, 1966.

64. Regeional and Goldberg : Tilak and the struggle for freedom, peoples publishing house, New Delhi, 1966.

65. Rao, Nagraja : Contemporary Indian philosophy.

66. Sane, P.S. : The life of the Hon. Gokhale, poona 1925.

67. Sastri, V.S. and Srimivasa : life of Gopal Krishna Gokhale, the bangalore press, Bangalore, 1937.

: My Master Gokhale, Model publications, Madras, 1946.

68. Shahani, T.K. : Gopal Krishna Gokhale, A Historical biography, R.K. Modi, Bombay, 1929.

69. Sharma, D.S. : Hinduism through the edges.

70. Shay, T.L. : The legacy of the Lokamanya, The political Philosophy of Bal Gangadhar Tilak, Bombay, 1956.

71. Shivlankar, K.S. : The problemes of India, London, 1940.

72. Sitaramayya, B. Pattabhi : The History of Indian National Congress, Volume-I (1885-1935), Padma Publications Ltd, Bombay, 1935

73. Tamhankar D.V. : Lokmanya Tilak Father of Indian unrest and maker of Modern India John murray, London. 1956.

74. Tilak, Balgangadhar : (1) Hiswritings and speeches Ganesh and Co. Madras 1922.

(2) The orion 4th ed poona, 1955.

(3) The Arctic Home in the vedas poona, 1956.

75. Theodor, L. Shay : The legacy of the Lokmanya Oxford University press, 1956.

76. Thakur, Upendra Nath : The History of Sucide in India.

77. Thomes, P. : Indian women through the edgeg, Asia publishing house, London.

: Hindu Religions, customs and manners, D.P. Tara Porawala sence and Co. PVT. Ltd. Bombay, 1971.

78. Turnbull, e.L. and H.G.P. : Gopal Krishna Gokhale, A Brief biography, Trichur, 1934.

79. Varma, V.P. : The life and philosophy of Lokmanya Tilak, Agra, Lakshmi Narain Agarwal n.d.

1) Foundations of Renaissance and Nationalism in India. "The Spark" Patna, 1958.

2) Lokamanya Tilak and Early Indian Nationalism 1881-1896 Patna University Journal, 1961.

3) Relations of Tilak and Vivekanand, The Vedant Kesari, Madras, 1958.

4) Lokmanya Tilak in his student Days current studies, Patna 1959

5) Educational Ideas and Activities of Lokmanya Tilak, "Stadies in the Philosophy of Education. agra, Laxhmi Narayan Agrawal 1964.

6) The Social Philosophy of Lokmanya Tilak. "Social Studies." Patna University. 1957.

7) The Religious and socialogycal techniques of Early Indian Nationality. The Spark Patna 1959 (1889 to 1904)

8) Lokmanya Tilak and the Congress. Patna University Journal 1959.

9) The Economic ans Social Activities of Lokmanya Tilak Patana University Journal 1960.

10) The Genesis of Extremism in Indian Politics Patna University Journal 1962.

11) The Origins of swadeshi Movement. "Vidyarth Sandesh" 1960.

12) The Political Theory of Indian Extremism "Public Openion" Patna 1958.

13) Foundations of Indian Extremist Nationalism "The Search light' 1958.

14) Tilak and Swarajya " The Search light 1959.

15) Lokmanya Tilak and Indian Notionalism Patna University Journal 1967.

16) Lokmanya Tilak in england, Current Studies Patna College 1960.

17) Lokmanya Tilak : The Last Phase , Current studies Patna Collage 1958.

18) Lokmanya Tilak's Philosophy of Hindu Yeligion, The Kalyan Kalptaru Gorakhpur 1958.

19) Foundations of Lokmanya Tilak's Political Thought The statesman Calcutta 1956.

20) The Political Philosophy of Lokmanya Tilak The Indian Journal of Palicical Science 1958.

21) Thoughts of Tilak and Gandhi The Amrit Bazar Patrika Calcutta 1960.

22) Tilak's place in world History, " The Indian Nationl' Patna 1957

23) Tilak and Arvindo " The Indian Nation Patna 1959.

80. Vyas, K.C. : The Social Reniesance in India bora and Co. Pub. PVT. Ltd. Kelva Devi, Bombay 1957.

81. Wacha, D.E. : Reminences of the late Hon. Mr. G.K. Gokhale, Bombay, 1915.

82. Willkinson, W.J. : Modern Hindulism.

83. Wolpert. S.A : Tilak and Gokhale, Revolution and Reform in the making at modern india, Delhi, Oxford University Press. 1989.

84. Zakaria, Fafig : Rise of Muslims in Indian Politics, Bombay, Somaiya Publication, 1988.

85. Zakaria, H.C.E. : Reniscent India Jeorge and Anvin Ltd. Museum street London. 1933.

OTHER BOOKS AND ARTICLES

English

Abbott, J, E., trans., The Poes Saints of Maharashtra, 12 vols,. Vols. IX-XI, in collaboration with N.R. Godbole and J. F.

Edwards. Vol. XII trans. by Edwards alone (Poona, 1926-1941).

Ambekar, D.V., ed., The Deccan Sabha (Poona, 1947).

Anjaneylu, D., "Tilak and Gokhale," The Indian Review, LVII : 8 (August, 1956), 288-90.

Anon., A Sketch of the Life of Rao Bahadur R. N. Mudholkar (Madras, 1911).

--------------, Sir C.S. Nair, A Life (Madras, n.d.).

Ballhatchet, K., Social Policy and Social Change in Western India, 1817-1830 (London, 1957).

Banerjee, S. N., A Nation in Making. Being the Reminiscences of Fifty Years of Public Life (London, 1925).

Barnouw, V., "The Changing Character of a Hindu Festival," American Anthropologist, LVI : I (February, 1954), 74-86.

Besant, A., How India Wrought for Freedom. The Story of the National Congress Told from Official Records (Madras, 1915).

--------------, Speeches and Writings of Annie Besant, 3d ed. (Madras, n.d.).

Betham, R.M., "The Marathas as a Military Nation," in Sivaji and the Rise of the Mahrattas (Calcutta, 1953).

Bhandarkar, R.G., A Note on the Age of Marriage and Its Consummation According to Hindu Religious Law (Poona, 1891).

Bhat, V.M., "Abhinave Bharat (New India)," an unpublished summary in English (Marathi original published in Bombay, 1950.

Bhate, G.C., History of Modern Marathi Literature, 1800-1938 (Poona, 1939).

Bloomfield, M., "A Century of Comparative Philology," Johns Hopkins University Circulars, XIII : 10 (March, 1894), 40.

Brown, D.M., "The Philosophy of Bal Gangadhar Tilak : Karma vs. Jnana in the Gita Rahasya," Journal of Asian Studies, XVII : 2 (February, 1958), 197-208.

Brown, W.N., The United States and India and Pakistan (Cambridge, Mass., 1953).

Buch, M.A., the Development of Contemporary Indian Political Thought, 3 vols. (Baroda, 1938-1940).

Chandavarkar, G.L., A Wrestling Soul. Story of the Life of Sir Narayan Chandavarkar (Bombay, 1956).

Chapekar, N.G., Chitpavan (Poona, 1938).

Chintamani, C.Y. Indian Social Reform (Madras, 1901).

Chirol, V., Indian Unrest (London, 1910).

Deming, W. S., Ramadas and the Ramdasis (Calcutta, 1928).

Douglas, J., A Book of Bombay (Bombay, 1883).

Dutt, P., Memoirs of Moti Lal Ghose (Calcutta, 1935).

East India (Case of Mr. Crawford of Bombay). 1889 (Command report No. 5701), LVIII, 127.

East India (Crawford Case), 1890 (Command Report No.100), LIV, 125.

East India (Crawford Case), 1890 (Command Report No. 131), LIV, 219.

East India (Prosecutions for Speeches, etc.), 1909 (Command Report No. 50), LXIV, I.

Gandhi, M.K., Gandhi's Autobiography. the Story of My Experiments with Truth, trans. from the original Gujarati by M. Desai (Washington, 1948).

Gandhi, M.K., Satyagraha in South Africa, trans. from the original Gujarati by V. G. Desai (Academic Reprints, Stanford, 1954).

-------------, Young India, 1919-1922, 2d ed. (New York, 1924).

Gidumal, D., The Life and Life Work of Behramji M. Malabari (Bombay, 1888).

Gopalakrishnan, P.K., Development of Economic Ideas in India, 1880-1914 (Travancore-Cochin, 1954).

Grant Duff, J., History of the Mahrattas, 4th ed., 2 vols. (Bombay, 1878).

Gundappa, D.V., "Liberalism in India," Confluence, V : 3 (Autumn, 1956), 216-228.

Gupta, C., Life of Barrister Savarkar (Madras, 1926).

Gupte, K.S., The Bombay Land Revenue Code with Rules, Bombay Act V of 1879 (Bombay, 1934).

Hunter, W.W., Bombay 1885 to 1890. A Study in Indian Administration (London, 1892).

Jeejeebhoy, J. R. B., Bribery and Corruption in Bombay (Bombay, 1952).

------------, Some Unpublished and Later Speeches and Writings of the Hon. Sir Pherozeshah Mehta (Bombay, 1918).

Joshi, G. V., Writings and speeches of Hon. Rao Bahadur G.V. Joshi B.A. (Poona, 1912).

Joshi, V.V., Clash of Three Empires (Allahabad, 1941).

Karandikar, J.S., 60 years of Ganesh Festival (Poona, 1953).

Karve, D.G., Ranade—The Prophet of Liberated India (Poona, 1942).

Kaye, J.W., Lives of Indian Officers (London, 1867).

Keith, A. B., ed., Speeches and Documents on Indian Policy, 1750-1921, 2 vols. (London, 1922).

Kelkar, N.C., "V. K. Chiplunkar," Indian Worthies (Bombay, 1906), I, 119-167.

-------------, ed., The Case Against the Convention (Poona, 1908).

-------------, The case for Indian Home Rule. Being a General Introduction to the Congress-League Scheme of Political Reforms in India (Poona, 1917).

-------------, Pleasures and Privileges of the Pen, edited by K. N. Kelkar (Poona, 1929).

Kellock, J., Mahadev Govind Ranade. Patriot and Social Servant (Calcutta, 1926).

Kunzru, H.N., ed., Gopal Krishna Devadhar (Poona, 1939).

Limaye, P.M. The History of the Deccan Education Sociey (Poona, 1935).

------------, Poona: Queen of Deccan Cities (Poona, 1957).

Malabari, B. M., Notes on Infant Marriage and Enforced Widowhood (Bombay, 1884).

Mandlik, N.V., Writings and Speeches of the Late Honourable Rao Saheb Vishvanath Narayan Mandlik, With a sketch of his life by D. G. Padhye (Bombay, 1896).

Mankar, G. A., A Sketch of the Life and Works of the Late Mr. Justice M. G. Ranade, 2 vols. (Bombay, 1902).

Masani, R.P., Dadabhai Naoroji. The Grand Old Man of India (LOndon, 1939).

Mazumdar, A.C., Indian National Evolution. A Brief Survey of the Origin and Progress of the Indian National Congress (Madras, 1915).

Mazumadar, J. K., Raja Ramamohan Roy and Progressive Movements in India (Calcutt, 1941.)

McCully, B.T., English Education and the Origin of Indian Nationalism (New York, 1940).

Mehta, P.M.m Speeches and Writings of the Honourable Sir Pherozeshah M. Mehta, K.C.I.E., edited by C.Y. Chintamani (Allahabad, 1905).

Milburn, R.G., England and India (London, 1918).

Minto, Countess M., India, Minto and Morley, 1905-1910 (London, 1934).

Mody, H.P., Sir Pherozeshah Mehta. A Political Biography, 2 vols. (Bombay, 1921).

Mukherji R., Nationalism in Hindu Culture (London, 1921).

Morley, J., Recollections, 2 vols. (New York, 1917).

Mukherji, P., ed., Indian Constitutional Documents, 1600-1918 (Calcutta, 1918), I.

Muller, F. Max, Heritage of India (Calcutta, 1951). Reprint.

Naidu, S., Speeches and Writings of Sarojini Naidu (Madras, 1918).

--------------, Reminiscences of Gokhale (Poona, n.d.).

Naik, V.N., Indian Liberalism. a Study (Bombay, 1954).

Naoroji, D., Speeches and Writings of Dadabhai Naoroji (Madras, 1910).

--------------, The Poverty of India (London, 1878).

Natarajan, j., History of Indian Journalism, Part II of the Report of the Press Commission (Delhi, 1955).

Nevinson, H.W., The New Spirit in India (London, 1908).

Nurullah, S. and J.P. Naik, History of Education in India During the British Period (London, 1943).

Pal, B.C., the Spirit of Indian Nationalism (London. 1910).

Park, R. L., "The Rise of Militant Nationalism in Bengal. a Regional Study of Indian Nationalism." Unpublished doctoral dissertation, Harvard University, 1951.

Pattenson, M.L.P., "A Preliminary Study of the Brahman versus Non-Brahman Conflict in Maharastra." Unpublished M.A. dissertation, University of Pennsylvania, 1952.

Pilgamkar, D.W., ed., Telang's Legislative Council Speechs (Bombay, 1895).

Prasad, R., Autobiography (Bombay, 1957).

Rai, L.,Young India. An Interpretation and a History of the Nationalist Movement from Within (New Youk, 1917).

Ranade, M. G., Essays on Indian Economics. A Collection of Essays and Speeches (Bombay, 1898).

------------, Rise of the Maratha Power (Bombay, 1900).

------------, Religious and Social Reform. A Collection of Essays and Speeches, edited by M.B. Kolaskar (Bombay, 1902).

------------, The Miscellaneous Writings of the Late Hon'ble Mr. Justice M. G. Ranade, edited by V. V. Thakur (Bombay, 1915).

Ratcliffe, S. K., Sir William Wedderburn and the Indian Reform Movement (London, 1923).

Report of the Commissioners, Royal Commission on the Public Services in India, I (Command Report No. 8382) (London, 1916).

Report of the Eleventh National Social Conference held in Calcutta on ist January 1897 (Poona, 1897).

Report of the Thirteenth National Social Conference held in Lucknow on 29 to 31 December 1899 (Poona, 1900).

Roy, R. M., Raja Ram Mohun Roy. His Life, Writings, and Speeches (Madras, n.d).

Sardesai, G. S., New History of the Marathas, 3 vols. (Bombay, 1946-1948).

-------------, The Main Currents of Maratha History (Bombay, rev. and amended 1949).

Sedition Committee, 1918, Report (Calcutta, 1918).

Sinha, S.P., Speeches and Writings of Lord Sinha (Madras, n.d.).

Sitaramayya, B.P., The History of the Indian National Congress, 1885-1935 (Bombay, 1935).

Smith, W. R., Nationalism and Reform in India (New Haven, 1938).

Sorabji, C., "A Bengali Woman Revolutionary," The Nineteenth Century, CXIV : 681 (November, 1933), 604-611.

Srinivasa Sastri, V. S., Life and Times of Sir Pherozeshah Mehta (Madras, 1945).

-------------, Thumb-Nail Sketches. A Selection from the Writings and Speeches of the Right Hon'ble V. S. Srinivasa Sastri, edited by T. N. Jagadisan (Madras, 1946).

Subba Rao, K., Revived Memories (Madras, 1933).

The Surat Congress. A Unique Collection of Letters, Articles, and Reports Intended to Give a More Exact History of the Fiasco Than Any Published Hitherto (Madras, n.d.).

Tinker, H., The Foundations of Local Self-Government in India, Pakistan, and Burma (London, 1954).

Wacha, D.E., Speeches and Writings of Sir Dinshaw Edulji wacha (Madras, 1920).

Wedderburn, W., allan Octavian Hume (London, 1913).

West, Sir R., "Higher Education in India. Its Position and Claims," Transactions of the Ninth Oriental Congress (London, 1892).

-------------, "Mr. Justice Telang," The Journal of the Royal Asiatic Society of Grat Britain and Ireland (London, 1894), pp. 103-147.

Whitney, W. D., "On a Recent Attempt by Jacobi and Tilak, to Determine on Astronomical Evidence the Date of the Earliest Vedic Period as 4000B.C.," Journal of the American Orienatal Society, XVI (New Haven, 1896), lxxxii-xciv.

Wilson, G.F., Letters to Nobody, 1908-1913 (London, 1921).

Zacharias, H. C.E., Renascent India. From Ram Mohan Ray to M. Gandhi (London, 1933).

SERIES

India the newspaper of the British Committee of the Indian Natinal Congress, 1890-1920 (London) Complete files in the Annex of the British Museum. London and Congress House, Delhi.

The Quarterly Journal of the Poona Sarvajanik Sabha, 13 Vols, 1878-1890 (Poona). Complete files in the I.O. Library. London and S.I.S. Library, Poona.

Times of India, 1880-1920 (Bombay). There is a gap from 1890-1912 in the overseas file of this important newspaper in the I.O. library. A Complete file is preserved in the library of the Asiatic Society of India, Bombay Branch, Twon Hall. Bombay.